हम इश्क़ के बन्दे हैं........

हम इश्क़ के बन्दे हैं........

रामानुज लाल श्रीवास्तव

नेशनल पब्लिशिंग हाउस

९६, दरियागंज, दिल्ली

दो शब्द

स्व० श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान ने, सन १९४२ में प्रमुख हिन्दी-लेखकों की १६ कहानियों का संकलन किया था; जो 'विवेचनात्मक गल्प-विहार' के नाम से इंडियन प्रेस द्वारा प्रकाशित हुआ और जिसके अनेक संस्करण हो चुके हैं। मुझे उक्त संकलन में सहयोग देने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उस पुस्तक की, पचास पृष्ठ की, मैंने भूमिका भी लिखी। इतनी लंबी भूमिका लिखने के बाद; जिसमें प्राचीन-नवीन, देश-विदेश की कहानियों का बहुतेरा उखाड़-पछाड़ किया गया है; मेरी पिद्दी कहानी भला उस संग्रह में क्या जाती? हाँ; कहानियों के संबंध में भूमिका लिखने की साध उसी समय पूर्ण हो गई। पुस्तक अनेक विश्वविद्यालयों में पढ़ाई गई और पढ़ाई जा रही है।

हीरक-जयंती के अवसर पर मुझे जो अभिनन्दन पुस्तिका दी गई, उसमें एक अध्याय मेरी कहानियों पर भी है। इस प्रकार भूमिका लिखवाने की साध भी पूरी हो चुकी है।

फिर भी प्रकाशक महोदय का अनुरोध है कि कुछ बकूँ। कला परिभाषा के बाँधे नहीं बँध सकती। सच्ची कला में सौंदर्य होना ही चाहिए, चाहें रचना का विषय बीभत्स भले ही हो। जो सुन्दर है, उसे कल्याणकारी

होना ही पड़ेगा; चाहे गणना उसकी पलायनवाद में कर ली जाय। जिसमें ये गुण नहीं हैं, वह कला झूठी है।

प्रस्तुत कहानियों में न्यूनाधिक कला है या नहीं, यह तो पाठक, आलोचक ही बतला सकेंगे। यदि नहीं है, तब भी क्यों रोऊँ ? पुस्तकें लिखना मेरा शौक है; उन्हें बेचना मेरा पेशा। तीस-बत्तीस साल में वह कम-बेश सीख ही लिया है। ऐसी कहानी लिखी जाय कि संग्रह तो कुछ नहीं, पर व्यावसायिक तिकड़म से संस्करण सब बिक गया; तो 'प्लाट' कैसा रहे ?

६३वाँ जन्म-दिन
२५. ८. १९६०

रामानुज लाल श्रीवास्तव

कहानी-क्रम

'हम इश्क़ के बन्दे हैं....'

शैर भी पिटता है और तर्ज़ भी पिटती है, और अब तो सिनेमा तथा रेडियो की कृपा से थोड़े ही दिनों में दोनों का कचूमर ही निकल जाता है, पर जिन दिनों की यह चर्चा है, उन दिनों कविता और संगीत इतने सस्ते नहीं हुए थे। बड़ी मुश्किल से, कभी होली-दीवाली महफ़िल भरती थी। कोई मृगनयनी बाहर से बुलवाई जाती थी। वह कमर में छप्पन बल दे कर कोई नई तर्ज़ उठाती थी। तब कहीं यारों को नकल करने का मौक़ा मिलता था।

ग्रामोफ़ोन का मुर्दा रिकार्ड तो था नहीं कि जब तक तर्ज़ गले से न उतर जाय, चाभी ऐंठते चले जाओ। वह था सजीव संगीत, जिसको दोहराने के पैसे लगते थे। एक-दो बार सुन कर कोई बिरला ही तर्ज़ उतार पाता था—यों तो गाना-रोना किस को नहीं आता!

'हम इश्क़ के बन्दे हैं' भी एक पुराने शैर का अंश है। पूरा इस प्रकार है :

'हम इश्क़ के बन्दे हैं मज़हब से नहीं वाक़िफ़।
गर काबा हुआ तो क्या, बुतखाना हुआ तो क्या?'

आप भी कहेंगे—'म्याँ, क्या क़ब्रिस्तान खोदे डाल रहे हो'—परंतु मेरी इच्छा शैर सुनाने की नहीं, कहानी सुनाने की हैं।

(२)

कहने को लड़के थे, पर थे खासे मुच्छाकड़े,—और सच बात यह है कि कुछ लोग बच्चों के बाप भी थे, यद्यपि पढ़ते थे मैट्रिक के फ़ाइनल

दर्जे में, मैंने कहा न कि, यह इन दिनों की चर्चा नहीं है, जब लड़के और लड़कियाँ एक साथ पढ़ती हैं और नख-शिख भी एक-सा ही होता है। रही बात पढ़ने की, तो कम से कम मेरे ग़ोल वाले लड़कों, अर्थात् मुच्छाकड़ों पर तो यह दोष बिलकुल नहीं लगाया जा सकता था। यहाँ तक तो ढकेला-ढकेली पहुँच गए थे पर आगे यही आशा थी कि 'मैट्रिक फ़ेल' की उपाधि तो कोई छीन ही नहीं सकेगा।

ठीक पढ़ने-लिखने के समय, अर्थात् सात बजे रात को, हमारे ग़ोल का मुखिया, घर के पिछले दर्वाज़े से खिसक कर, सड़क पर पहुँचा और इंजिन के समान सीटी देते, मोहल्ले का चक्कर लगाने लगा। थोड़ी ही देर में हम सब चेला-चपाटी इकट्ठे हो गए और चौराहे के पुल पर सभा लग गई।

मुखिया ने कहा—"देखो, यारो! कल है होली और होली की रात जो किताब का नाम भी ले, वह है दोगला।"

एक ने कहा—"दोगला नहीं, हमारी तरफ़ से पोगला।"

मुखिया—"पोगला क्या?"

वह साथी—"पोगला अर्थात् जैसे द्रौपदी पाँच पतियों वाली थी, वैसे वह पाँच पिताओं वाला।"

मुखिया ने फ़ौरन उसकी पीठ ठोंकी और खुद अपने हाथ से एक शेर छाप बीड़ी इनायत की। उन दिनों सिगरेट नहीं चली थी और शराब तो हमारे ग़ोल वालों में से भी किसी ने नहीं छुई थी, यद्यपि सब की जन्मकुण्डली में लिखा था कि पिएँगे और कुण्डली की बात तो आगे हो कर ही रही।

ग़ोल के सूचना-विभाग के मंत्री ने बतलाया कि कल रात्रि नौ-दस बजे से सदर बाज़ार में एक आम महफ़िल भर रही है, जिस में खास बाँदा शहर से एक चमाचम और छमाछम चीज़ आ रही है। सर्वसम्मति

से उस महफ़िल की शोभा बढ़ाने का प्रस्ताव पास हुआ और 'बांदेवाली ज़िन्दाबाद' के नारे से सभा समाप्त हुई।

वह होली की रात और बांदेवाली की बात तो भुलाए नहीं भूलती। 'खिसकते-खिसकते चले जाइए' के सिद्धान्त का पालन कर, आधी रात बीते हमारी मंडली मज़े-मज़े के स्थान पर पहुँच गई थी। बूढ़ों-ठूढ़ों के चले जाने से नौजवानों पर होली की बहार अपना रंग ला रही थी। उधर वह भी अपनी तमाम चुलबुलाइट को ढील दिए जा रही थी कि आज कोई बेईमान एक गिलट का रुपया भी जेब में वापस ले गया तो धिक्कार है उस के पेशे और उस के उस्तादजी को। ज्यों-ज्यों रात भीगती गई, त्यों-त्यों वह मचलती ही चली गई। बात ज़ब्त के बाहर हो जाने से एक रसिक ने—"हाँ, हाँ, सेठ जी, बेचारी का धरम न ले लेना"—की आवाज़ के बावजूद, उसके माथे पर गुलाल मल ही दी और दो रुपये न्यौछावर कर के साज़िन्दों की तरफ़ फेंक दिए। उस बला की शोख ने तुरंत एक ग़ज़ल उठाई और कुछ ऐसे नाज़ों-अन्दाज़ से यह शैर पेश किया कि तमाम महफ़िल लहालोट हो गई:—

'हम इश्क़ के बन्दे हैं मज़हब से नहीं वाक़िफ़।
गर काबा हुआ तो क्या, बुतख़ाना हुआ तो क्या ?'

नया शैर, नई तर्ज़, नई नवेली ने कुछ इस ढब से फेंका कि हमारी मंडली के प्रत्येक सदस्य के छाती के पार हो गया और चार रोज़ तो एक कोहराम- सा मच गया।

मोहन बाबू से पूछो—'क्या हाल है, भाई ?' तो जवाब मिलता—

'उस के कूचे में सदा मस्त रहा करते हैं।
वही बस्ती, वही नगरी, वही जंगल, वही बन॥'

बाद में इन महाशय को दिखलाई तो गई एक गोरी लड़की और धोखे से शादी की गई एक कलूटी से, जिससे आधे दर्जन बच्चे हैं।

और कंचन बाबू की मिज़ाजपुर्सी कीजिए तो बड़ी आह-ऊह के बाद जवाब मिलता:—

'जब से उस शोख़ के फन्दे में फँसे, टूट गए।
जितने थे मज़हबो-मिल्लत के जहाँ में बन्धन ॥'

इस बेचारे को ऐसी मिली जिसका एक मुहल्ला ही उजाड़ था। मेरा भी कुछ हाल आगे आएगा ही।

अपनी तबियत पर काबू था तो एक मियाँ अज़ीज़ को। बड़ा खिलाड़ी, बड़ा ताक़तवर। कमज़ोरों का दोस्त, दिमाग़ वालों का दुश्मन। बड़ा चुप्पा, बड़ा मनहूस। परन्तु एक गुण ऐसा था कि मंडली की मंडली बिना अज़ीज़ सूनी जान पड़ती थी। बस गुण क्या था? उससे पूछा गया—'कहिए खाँ साहब! कुछ आप के भी दिमाग़ शरीफ़ में आया?'—तो उसने एक भोंड़ी-सी मुस्कराहट मुँह पर लाकर, जेब से बाँसुरी निकाली और ज्यों की त्यों तर्ज़ निकाल कर रख दी। फिर तो वो खुशामदें हुईं अज़ीज़ मियाँ की कि क्या किसी परीक्षक की हुई होंगी। ज्यों ही वह बाँसुरी हाथ में लेता कि फ़र्माइशें होने लगतीं—'हाँ भाई, इश्क़ के बन्दे।'—'हो भाई, इश्क़ के बन्दे।' यहाँ तक कि स्पेन्सर साहब भी कहते—'लगा, इश्क़ वाला बन्दा लगा।' होते-होते बेचारे अज़ीज़ का नाम ही 'इश्क़ के बन्दे' पड़ गया। वह भी खुदा का बन्दा थोड़ी देर तक तो समा ही बाँध देता था। जान पड़ता था कि एक-एक स्वर में दिल की आह छिपी हुई है।

जैसे अकाल-महामारी के प्रकोप से गाँव के गाँव उजड़ जाते हैं, उसी प्रकार परीक्षा-राक्षसी ने हमारे ग़ोल को मटियामेट कर दिया। ग़ोल का जो एक लड़का परीक्षकों या प्रेस की असावधानी से पास हो गया था, उस से बाक़ी साथियों ने फिर कभी बातचीत नहीं की। ग़ोल की आखिरी बैठक बड़ी करुणाजनक थी। अगले साल कलकत्ता यूनीवर्सिटी से परीक्षा देने के प्रस्ताव पर प्रस्ताव पेश हो रहे थे। जो सम्पन्न

थे वे तत्काल स्वीकृति दे रहे थे। जो पूर्व जन्म के पाप से निर्धन माता-पिता के लाड़ले होकर पैदा हुए थे, वे कलकत्ता भाग जाने के उपायों पर गंभीर गवेषणा कर रहे थे। अन्ततोगत्वा सुधरे हुए लड़कों का एक वड़ा दल एक सुन्दर प्रभात में कलकत्त वाली डाक गाड़ी में बैठ गया और उसी में अज़ीज़ भी एक था। इसके वाद एक अर्से तक मुझे इसके अतिरिक्त अज़ीज़ का और कुछ पता नहीं लगा कि वह कलकत्ते में है, ज़िन्दा है और मैट्रिक पास कर किसी कालेज में भरती हो गया है।

(३)

कलकत्ता! भारत की पुरानी राजधानी कलकत्ता! अजी वहुत वड़ी जगह है कलकत्ता! क्या चौड़ी-चौड़ी सड़कें हैं! क्या वड़े-वड़े महल! क्या विजली! क्या ट्राम्वे! क्या दौड़ती मोटरें और मोटरों के भोंपू कि आँखें चौंधियाती और कान फटते रह जायँ! और भले आदमियों का कहना ही क्या? वस, पत्थर फेंक कर मारिए तो किसी भले आदमी के सर पर ही गिरेगा!

अव सुनिए! वर्षों के परिश्रम के वाद परीक्षारूपी समुद्र को लाँघ और वर्षों की उम्मीदवारी के वाद भगवती, फलवती नौकरी के सहारे तथा दीनवन्धु, दयानिधि, देवाकार मालिक के काम से एक वार शुभ दिन, शुभ लग्न, शुभ संवत् में मेरी भी कलकत्ता पधारने की तैयारी हुई। काम यह था कि एक अच्छा-सा मकान किराये पर ले कर, सजा कर, उसमें रहना और मालिक के आने की प्रतीक्षा करना। ख़ैर साहव! अच्छे-ख़राव वूट और नए- पुराने सूट वाँध लिए। कलकत्ता होटल का पता रट लिया। अव यह चिन्ता हुई कि वहाँ पहुँच कर वड़ी-वड़ी संस्थाओं, जैसे नाटक, सिनेमा आदि का निरीक्षण किसके साथ किया जायगा। तुरन्त अज़ीज़ का नाम याद आया और मैं उसके घर की ओर लपका। वड़े मियाँ वैठे-वैठे माला सरका रहे थे। कुछ देर इधर-उधर की वात-

चीत करके जब मैंने अज़ीज़ का पता पूछा तो उन्होंने चौकन्ने होकर कहा—"क्यों ?"

मैं ने कहा—"परसों डाक से कलकत्ते जा रहा हूँ।"

बड़े मियाँ ने कहा—"बहुत अच्छा है। घूम आओ। तफ़रीह हो जायगी। वक़फ़ियत बढ़ेगी।"

मैंने कहा—"जा तो रहा हूँ मालिक के काम से पर सोचा कि अज़ीज़ भाई का भी पता ले लूँ। मुलाक़ात हो जायगी।"

बड़े मियाँ—"अज़ीज़ से कोई खास काम है ?"

मैं—"काम तो क्या, इतनी दूर जा कर बिना मिले लौट आने से रंज पहुँचेगा।"

बड़े मियाँ—"नहीं बेटा, ज़रूर मिलना, ज़रूर मिलना। कह देना कि खुदावन्द करीम की महरबानी से सब खैरियत है।" और एक लम्बा-चौड़ा पता लिखा दिया।

इन सब तैयारियों के साथ हावड़ा स्टेशन पर उतरा। कुली ने 'सलाम बड़ा साहब' कह कर सामान उठा लिया और टैक्सी पर रख दिया। बड़े साहब की उपाधि से प्रसन्न होकर मैं ने एक चवन्नी कुली साहब को भेंट की। फिर से सलाम ठोंक कर वह दो-चार क़दम गया परन्तु सहसा लौट कर गिड़गिड़ाने लगा—"सरकार, यह चवन्नी खोटी है, इसे बदल दीजिए।" इधर टैक्सी भी चलने पर थी। मैं ने खोटी चवन्नी ले ली और चार इकन्नियाँ देकर सोचने लगा कि मैं तो, खुद एक-एक पैसा ठोंक-बजा कर लेता हूँ, यह बेईमान मेरे पास कहाँ आगई। टैक्सी अब ज़ोरों से भाग रही थी। ड्राइवर साहब नेक हा—"बाबू, कुली ने आप से आठ आने पैसे ऐंठ लिए।" मैंने पूछा—"कैसे ?"

ड्राइवर—"यह खोटी चवन्नी उसने अपने पास से निकाली थी। आप परदेसी हैं। यहाँ के भले आदमियों से सम्हले रहिएगा।"

मैं ने देखा ड्राइवर साहब एक घनी दाढ़ी वाले सिख हैं। पूछा—"आप ने उसी वक्त क्यों नहीं बतलाया, सरदार जी ?"।

उत्तर मिला—"रोज़ उन्हीं लोगों से काम पड़ता है। मुंह पर क्या कहता ?"

चलते-चलते टैक्सी एक चौमुहाने पर रुक गई। चारो ओर मोटरों, ट्रामों, बसों की भीड़ थी। सिपाही ट्राफ़िक पास करा रहा था। मेरी टैक्सी के 'फ़ुट बोर्ड' पर एक नई उमर के खाँ साहब कुछ घबराए हुए से आ खड़े हुए और एक लिफ़ाफ़ा मेरी आँखों के सामने रख दिया, जिस पर लिखा हुआ था–"पेरिस पिक्चर्स।" इसके बाद लगे बड़बड़ाने——"एक ही रुपया दे दीजिए, साहब। किसी राजा-रईस को बेचता तो पच्चीस-पचास हाथ लग जाते, पर क्या करूँ, पुलिस पीछे लगी है।" ऐसे खतरे की चीज़ भला मैं कब लेने लगा, पर मोटर से भी तेज़ दौड़ने वाली विचार-शक्ति ने मुझे अपने मालिक साहब की याद दिला दी, जिन्हें ऐसी चीज़ों की अक्सर ज़रूरत रहा करती है और एक अन्तर्स्वर ने कहा—'ले भी लो। एक ही रुपए की तो बात है। वर्षों से जिस तरक्क़ी की आशा लगाए हो शायद उसकी कुंजी इसी लिफ़ाफे में बन्द हो।' मैं ने एक रुपया खाँ साहब के हवाले किया और लिफ़ाफ़ा सावधान से भीतर के जेब में रख लिया।

टैक्सी चल पड़ी और थोड़ी देर में कलकत्ता होटल के दरवाज़े पर जा लगी। होटल का नौकर मेरा सामान उतारने लगा। मैं ने सरदार जी से पूछा कितना हुआ ? उन्होंने मुस्करा कर 'मीटर' की ओर इशार कर दिया। मीटर चार रु० छः आने बतला रहा था। मैं ने किराय चुका दिया।

जब टैक्सी चली गई तब होटल के नौकर ने पूछा—"बाबू, आप कहाँ से आ रहे हैं ?" मैं ने कहा–"स्टेशन से।" उसने पूछा—"सीधे ?" मैं ने कहा—"हाँ।" उसने कहा—"स्टेशन से होटल तक का किराय

तो एक रु० दो आने होता है। जान पड़ता है कि नया आदमी देख कर टैक्सी वाले ने आप को दो-एक चक्कर इधर-उधर के दे दिए।" मैं भौचक रह गया, कहा—"जरा ठहर भाई।" जेब से लिफ़ाफ़ा निकाल कर फाड़ा। उसमें मामूली तस्वीरों वाले छः कार्ड थे, जिनका मूल्य तीन आने से अधिक नहीं था। मैं ने उन्हें चीरफाड़ कर नाली के हवाले किया और नौकर से कहा—"मुझे सीधे कमरे में ले चल।"

कमरे में पहुँच, सामान रखवा कर मैं ने भीतर से सिटकिनी बन्द कर ली और सोचने लगा कि यदि घंटे-आध-घंटे में लोग मुझे चार-पाँच रुपयों की हद तक लूट सकते हैं तो औसतन सात-आठ घंटे के घूमने-फिरने वाले दिन में चालीस-पचास तो लूट के ही देने पड़ेंगे। जो सचमुच खर्च होगा वह अलग। इस तरह दो ही तीन दिनों में मेरा डेरा साफ हो जायगा और न मालूम महीने भर रहना पड़े या दो महीने। कब आवें; कब न आवें; मालिक की मर्जी का कौन ठिकाना! तब उपाय केवल यही है कि किसी ऐसे आदमी का साथ किया जाय जो इन भले आदमियों के हथकंडों से वाकिफ़ हो। मैं ने चट अज़ीज़ का पता निकाला और उसकी खोज में चल पड़ा।

बड़ी-बड़ी विपत्तियों में फँसता हुआ और पूर्वजों के पुण्य-प्रताप से उनसे सशरीर निकलता हुआ मैं उस सड़क पर पहुँचा, फिर उस मकान पर पहुँचा, जहाँ का पता दिया गया था परन्तु वहाँ अज़ीज़ तो अज़ीज़, उस नाम की कोई चिड़िया भी नहीं निकली। मैं ने एक आह भर कर कहा—"वाह, बड़े मियाँ, आज तो आप ने हमारे मशहूर ग़ोल की पिछली सब शरारतों का बदला निकाल लिया।"

(४)

अब यह चिन्ता हुई कि जहाँ दस-पाँच के पीछे ऐसी लूट मची हुई है, वहाँ किराए के मकान और उसकी सजावट के हजार-पाँच-सौ के

सौदे में तो कदाचित इस निकम्मे जीवन से ही हाथ धो लेना पड़े। अब पता चला कि गाँव के छैला शहर के बुद्धू होते हैं।

बहुत कुछ ऊंचा-नीच सोच कर मैं होटल के मैनेजर के पास गया। मालिक का नाम सुनते ही वे प्रभावित हुए। मैं ने कहा—"मुझे तो मालिक ने इतने बड़े-बड़े और जरूरी काम दे रखे हैं कि दम मारने की फ़ुर्सत नहीं। आप कृपा कर किसी अच्छे मुहल्ले में एक उम्दा मकान तय कर दीजिए और उसे निहायत अमीराना ढंग से सजवा दीजिए और जो ख़र्च व मेहनताना हो उसका बिल मुझ से चुकता कराइए। परन्तु इतना ख्याल रखिएगा कि किसी भी प्रकार की शिकायत हुई तो ज़िम्मेवारी आप की होगी।"

उन्होंने कहा--"नहीं साहब, राजा-रईसों के काम में और शिकायत! देखिए, जल्द से जल्द सब तय हुआ जाता है। तब तक आप बाक़ी के बड़े-बड़े और ज़रूरी काम कर डालिए।"

दो-तीन दिन मैं ने मक्खियाँ मारीं। जब सब ठीक-ठाक हो गया तब मैं भवानीपुर के एक तिमंजिले मकान में उठ गया—और प्रभु को तार दे कर उनकी प्रतीक्षा करने लगा।

नाटक-सिनेमा देख कर आदमी कब तक जी सकता है। और ऐसा नाटक किस काम का जिसकी दो-एक तर्ज़ उड़ा कर यार लोगों से दाद न ली जाय। और ऐसी फिल्म किस काम की जिसके गुण-दोष पर घंटे-आध-घंटे बहस न की जाय। अभिप्राय यह कि मैं कलकत्ते के जीवन से ऊब गया। मैं बहुत चाहता था कि कोई आए और इन सुन्दर दिनों में मेरे साथ खेले परन्तु एक तो रास्ता चलते दोस्त बनाने में लुटने का डर लगा हुआ था, दूसरे बैल को खेत जोतना था, मधु-मक्खी को मधु संचित करना था, सेठजी को एक-एक के दस-दस करना था और बाबू लोगों को चक्की पीसनी थी। इसलिये कलकत्ता रूपी टापू में मैं बिलकुल राबिन्सन क्रूसो हो रहा था।

(५)

एक दिन सोचा कि मालिक की मर्ज़ी तो ठहरी; कौन जाने आएँ न आएँ। कलकत्ते से बेगम साहबा के लिए कुछ सौगात तो ले लूँ। घूमते-फिरते कपड़े की दूकान पर पहुँचा। एक साड़ी देखी। बहुत अच्छी, नया स्टाइल, नया फ़ैशन, परन्तु रंग लाल था। उन्हें लाल रंग से नफ़रत है। कहती हैं बड़ा शौख़, गावदी, भदेस होता है। एक बार लाल किनारी की साड़ी ले गया तो विना पहिने कहारिन को दे दी। फिर भी मैंने दूकानदार से दाम पूछे। उसने कहा ५० रु०। मैंने कहा रंग ठीक नहीं है, किसी दूसरे रंग की दिखाओ।

उसने तुरन्त एक धानी साड़ी निकाली। काम उन्नीस-बीस था। रंग का क्या कहना! कदाचित इसी को देखकर कवि ने कहा था—'अल्ला-अल्ला फूट निकला रंग चाहत का मेरी। ज़हर खाया मैंने, पोशाक आपकी धानी हुई। एक तो बरछी ग़ज़ब की दूसरे तानी हुई।' मैं झूमझूम कर साड़ी को देख रहा था और दूकानदार मुझे। जब कुछ होश आया तो दाम पूछे। उसने कहा—सत्तर रु०। मैं एकदम गद्यात्मक संसार में फिसल आया और दोनों साड़ियों का काम और कपड़ा मिलाने लगा। उसने कहा—"देखते क्या हैं, साहब? वह बात और है, यह बात ही कुछ और है।" मैंने कहा—"मेरे पास तो कुल पचास का ही तौर है। देते हो तो दे दो।" "इन बातों में तो दूकान ही उठ जायगी, बड़ा बाबू"—कह कर वह साड़ियां डब्बों में बन्द करने लगा। मैं भी आगे बढ़ा। दस कदम जाने पर उसने कहा—"अच्छा साहब, साठ ही दे दीजिए।" मैं कुछ कदम और आगे बढ़ा, तब उसने कहा—"अच्छा, लाइए, पचास ही दीजिए एक सौदे में घाटा ही सही।" उसने बांध-बूंध कर डब्बा दे दिया। मैंने पचास रु० गिन दिए और खुशी खुशी डेरे की की राह ली।

दूसरे दिन सूट केस में रखने के लिये डब्बा खोलकर देखता क्या हूँ

कि उसमें वही लाल साड़ी रखी है। पैरों के नीचे से जमीन खिसक गई। मैं हांफता हुआ दूकानदार के पास पहुँचा। दूसरी साड़ी मांगी। उसने कहा "सत्तर रु०"। मैंने कहा—"उसी का तो पचास का सौदा हुआ था।" उसने कहा—"वाह साहब ! पचास साल से यहां दूकान लगाए बैठे हैं। ऐसा भी हो सकता है कि एक चीज़ का सौदा हो और दूसरी दे दें।" उसने चार अड़ोसी-पड़ोसी इट्कठे कर लिए और वे लगे मुझे ही उल्लू बनाने। मैंने कहा—"अच्छा बाबा, यह साड़ी ले लो, दस रु० और ले लो और वह धानी साड़ी दे दो।" उसने कहा—"देखिए बड़ा साहब ! इस साड़ी की बिक्री तो खाते में चढ़ चुकी। यह तो अब वापस होती नहीं। हां, आप को वह दूसरी साड़ी बहुत पसन्द है तो हम उसे साठ ही में दे देंगे। ग्राहक खुश तो दुनियां खुश।" अड़ोसियों-पड़ोसियों ने भी उसकी ताईद की। इरादा तो हुआ कि सीधे थाने में रपट लिखवा दूं और बँधवा दूँ एक-एक को परन्तु तर्क बुद्धि ने कहा कि इन पाँच पचों के सामने तुम्हारी सुनेगा कौन ? लाचार एक आह खींच कर और 'अँधेर हो रहा है, बिजली की रौशनी में' कहते हुए तथा घर पहुँचकर जो मरम्मत होगी उसपर विचार करते हुए, अपना-सा मुँह लेकर डेरे पर लौट आया।

(६)

अब मैं और भी चौकन्ना हो गया। डेरे से ज्यादा दूर घूमने-फिरने भी नहीं जाता था। एक रोज रात को भोजन करके 'रसा' रोड पर टहल रहा था कि किसी ने धीरे से आकर कहा—"बड़ा साहब, प्राइवेट मिस साहब।" मैं ने चौंक कर झुँझला कर कहा—'क्या प्राइवेट मिस साहब रे ?" उसने भेद पूर्ण स्वर से अहा—"बहुत अच्छा है, हुजूर ! बम्बई से आया है, नुमाइश देखने। फिर चला जायगा। ऐसी चीज मिलने का नहीं।" मैंने देखा मैले-कुचैले कपड़े पहिने एक चुक्खो दाढ़ी वाला आदमी है। एक शब्द कहता है तो दो बार सलाम करता है।

ठीक उन लोगों की सूरत-शक्ल है जो समूचे आदमी खपा देते हैं और कानों-कान खबर नहीं होती। तिस पर मैं तीन-चार बच्चों का बाप, और यह फन ! तौबा-तौबा ! परन्तु किसी ने भीतर से कहा—'देखिए मुंशीजी ! अगर कहानी लिखने का हौसला है तो तजुर्बे इकट्ठे कीजिए। जान का क्या है ? अभी तो आपको चौरासी लाख जन्म मिलेंगे। परन्तु इस प्रकार का अनुभव प्रत्येक जन्म में हाथ नहीं आने का। जिन्होंने जान हथेली पर रखकर अनुभव संग्रह किए हैं, उन्हीं की तूती बोल रही है। उदाहरण के लिये देखिए श्रीयुत प्रेमचन्द कृत 'सेवासदन'—सुमन के कोठे पर रईसों की धींगामस्ती तथा मरम्मत। मानते हैं कि काम खतरे का है, पर अंजाम कितना नेक है—यह भी तो सोचिए। लोग सौ छोटे-छोटे दोहे लिखकर अमर हो जाते हैं। कौन जाने इसी प्लाट से आप का साढ़े साती उतर जाय !'

बिजली की तरह एक हिकमत मेरे दिमाग़ में चमक गई। मैं ने कहा—"अच्छा, एक गाड़ी बुला लो।" उसने आवाज़ लगाई और एक विक्टोरिया आ पहुँची। मैंने कोचवान से कहा—घंटे के हिसाब से, पहला रुपय', बाकी बारह आने।" उसने कहा—"जो हुकुम, बड़ा साहब।" मैं भीतर बैठ गया। दलाल कोच बक्स पर बैठा। मैंने कहा—"जरा हरीश मुकर्जी रोड पर से चलो। कपड़े बदलना है।" मैं डेरे पर उतर पड़ा।

दलाल ने कहा—"हुजूर, कुछ मिल जाय। जब-तक आप कपड़े बदलते हैं तब-तक हम लोग भी खा-पी कर टंच हो जाते हैं। अब तो कहीं सवेरे ही लौटना होगा।" मैं नें दो रु० निकाल कर फेंक दिए और ऊपर गया। कलकत्ता होटल के मैनेजर के नाम एक चिट्ठी लिखी : "मैं फ़लाँ-फ़लाँ नंबर की गाड़ी में घूमने जा रहा हूँ। यदि सवेरे तक लौट कर न आऊँ या घायल या मृत कहीं पड़ा मिलूँ तो गाड़ी वाले को पुलिस के हवाले कर दीजिएगा और मालिक को तार दे दीजिएगा।"

चिट्ठी वन्द कर टेवल पर रख दी। उस पर पेपर वेट जमा दिया। एक अच्छा सूट डाट लिया। पिस्तौल में छः कारतूसें भरीं। कुछ नोट जेव में डाले और नीचे उतर पड़ा। दो घंटे तक टहलता रहा पर कहाँ की गाड़ी और कहाँ की चुक्खो दाढ़ी। अव मुझे पता चला कि कैसे वदमाशों के चकमें में आ गया था। दो रु० गए तो गए—वीवी-वच्चों की तक़दीर से जान तो सलामत रह गई, अन्यथा सर्वनाश में विलम्व ही क्या रह गया था।

इन्हीं सव वातों से ऐसा क्रोध आता था कि 'वंगवासी' में कड़ी और खुली चिट्ठी छपवा दूँ, ऐसी कि यह मनहूस शहर ही उजड़ जाय। परंतु, वह तो समझिए, कि व्यापारियों के भाग्य से, इसी समय एक ऐसी घटना घट गई कि भारत की तिजारती राजधानी, भले आदमियों की कर्मभूमि और दिल्ली की सौत का सेंदुर सलामत रह गया।

एक तरह से मैंने वाहर आना-जाना छोड़ ही दिया था। जव कमरे में वैठे-वैठे जी ऊव जाता, तव सामने हरीश मुकर्जी पार्क में जा वैठता। जव पार्क से जी ऊव जाता, तव कमरे में दाखिल हो जाता। एक रोज रात में पार्क में वैठा मालिक की खैर मना रहा था कि एक वृद्ध सज्जन और एक नवयुवती पास ही एक वेंच पर आ वैठी। थोड़ी देर तक तो वेचारे वुढ़ऊ थकावट के कारण हाँफते रहे फिर वंगाली में उस युवती से कुछ वातचीत की, तत्पश्चात् इस प्रकार आँख वन्द कर के वैठ गए जैसे उपासना कर रहे हों। युवती भी शान्त, गम्भीर, वैठी रही। लगभग आध घंटे तक मुझे ऐसा ज्ञात होता रहा जैसे वेंच पर दो मूर्तियाँ रख दी गई हैं।

इसके वाद वृद्ध की मुद्रा भंग हुई और वे युवती का सहारा लेकर चलने को उठ खड़े हुए परंतु दो पग भी न गए होंगे कि चक्कर खाकर पृथ्वी पर गिर पड़े। युवती एकदम चिल्ला पड़ी। मैं तो देख ही रहा

था। 'क्या हुआ ? क्या हुआ ?' कहते लपक कर पास पहुँच गया। युवती ने कहा—"फिट आगया है; जल्दी से एक टैक्सी।" सड़क पर दौड़ कर मैंने एक टैक्सी रोक ली और संज्ञाहीन वृद्ध को धीरे से उठा, पीछे की सीट पर लिटा दिया। युवती भी वहीं बैठ आँचल से पंखा करने लगी। मैंने आगे बैठते हुए पूछा—"कहाँ ?" उसने कहा—"इसी सड़क पर, थोड़ी दूर आगे।" जब मकान के सामने पहुँची तो उसने कहा—"बस।" अब की ड्राइवर ने भी मदद दी और हम लोगों ने उन्हें ले जा कर पलंग पर लिटा दिया। 'यू-द-कलन' की शीशी निकाल वृद्ध के सर पर पट्टी रखते हुए, युवती ने कहा—"आगे चौराहे पर डाक्टर राय रहते हैं, ज़रा उनको बुला लाइए।"

जब तक मैं डाक्टर को लेकर आया, वृद्ध को होश आ चुका था। डाक्टर ने कुछ दवा-दारू दी, जिस से वृद्ध को नींद आगई। हम लोग थोड़ी देर बैठे रहे। इस के बाद युवती ने मुझसे कहा—"कमज़ोरी के कारण कभी-कभी बाबा को फ़िट आजाता है। आज आप से बड़ी सहायता मिली। किस तरह धन्यवाद दूँ ?" दम-दिलासा देकर हम लोग उठे और इस परिस्थित पर विचार करते-करते, मैं डेरे पर आकर सो गया।

सबेरे जाकर देखा तो बुढ़ऊ आराम कुर्सी पर बैठे हुक्का गुड़गुड़ा रहे थे। मुझे देखते ही उन्होंने कहा—"कल मेरे कारण आप को बड़ी तकलीफ़ हुई।"

मैं ने कहा—"अजी साहब, कुछ नहीं। आप की तबियत तो अब ठीक है ?"

उन्होंने हँस कर कहा—"तबियत ठीक रहने के तो अब दिन नहीं हैं पर हाँ इस वक्त कोई ख़ास शिकायत नहीं है।"

इसके बाद उन्होंने मेरे संबंध में दो-चार प्रश्न किए। थोड़ी देर के बाद जब मैं जाने लगा, तब उन्होंने कहा—"चाय पी लीजिए, तब

जाइए।" लड़की भी आगई। चाय-पान हुआ। मैं चलने लगा तब उन्होंने कहा—"जब तक हैं तब तक कभी-कभी आ जाया कीजिए।"

इस सुसंस्कृत कुटुम्ब के संसर्ग से मेरा समय बड़े सुख और शांति से व्यतीत होने लगा। धीरे-धीरे मुझे उनका बहुत-सा हाल मालूम हो गया। उनका नाम चारुचन्द्रदत्त था। वे ब्राह्मसमाजी थे। पश्चिम में डिस्ट्रिक्ट जज रह चुके थे। अब अवकाश प्राप्त कर अपनी लड़की, सुविमल बाला की शिक्षा-दीक्षा के हेतु कलकत्ते में रहने लगे थे। लड़की किसी कालेज में पढ़ती थी।

जैसे-जैसे हेलमेल बढ़ता गया मैं दत्त महाशय और उनकी पुत्री के उदार स्वभाव और उच्च विचारों से प्रभावित होता गया। घंटों उन लोगों से धार्मिक, सामाजिक, साहित्यिक चर्चा हुआ करती थी। दत्त महाशय बड़े विद्वान तथा ईश्वरभक्त थे। लड़की भी पिता का अनुकरण कर रही थी। तात्पर्य यह कि महीने भर बाद, जब मालिक का तार आया कि वे तशरीफ़ नहीं लावेंगे और मुझे लौटने की आज्ञा मिली, तब इन सहृदय प्राणियों से विदा लेते हुए मेरी आंखें सजल हो गईं।

(८)

लाल साड़ी के कारण मेरा क्या हाल हुआ, यह तो नहीं बतलाऊँगा परन्तु इतना समझ लीजिए कि जब मालिक के दरबार में अपनी पेटेंट रीति से, मैंने कलकत्ते के हाल-चाल सुनाए कि कितना आलीशान मकान लिया गया था, किस नवाबी ठाठ से सजाया गया था, कैसे मालिक का नाम शहर भर में फैल गया था, कितने बड़े-बड़े सेठ-साहूकार सवेरे-शाम मालिक के दर्शन की अभिलाषा से कोठी के चक्कर लगाया करते थे, आदि, आदि और जब इन सच्ची बातों से खुश होकर मालिक ने मुझे मनचाही तरक्की दे दी, और जब मैंने

अतिरिक्त वेतन केवल साड़ी-खाते में जमा करने की शपथ ले ली, तब मामला डाइवोर्स कोर्ट में जाते-जाते बच गया।

जैसे दरबारी कान्हरा होता है, वैसे कुछ दरबारी कहानियां भी होती हैं, जो मालिक को खुश करने के लिए बार-बार कही जाती हैं। घिसते-घिसते कलकत्ते की कहानी को मैंने एक खास दरबारी रूप दे दिया था। दिन, सप्ताह, महीने, वर्ष बीत गए पर इस कहानी का प्रभाव कम नहीं हुआ। कलकत्ता-यात्रा के लगभग दो वर्ष बाद एक रात, भावावेश या मदिरावेश में, मैंने दरबार में यह कहानी कुछ ऐसे ठाठ से कही कि मेरे प्रभु कलकत्ता जाने के लिए एकदम उद्विग्न हो उठे। हलचल की मैंने दो ही घड़ियां देखी हैं,-एक तो जब मकान में आग लग जाती है, दूसरे जब मेरे महाप्रभु उद्विग्न हो उठते हैं। नतीजा यह हुआ कि इसके दो-तीन दिन बाद ही मैं कलकत्ते में ट्रामगाड़ी की टक्कर बचाते हुए दीख पड़ने लगा।

मेरी ओर से आप अपना दिल बिलकुल साफ़ कर लीजिए। कागज़ की चिकनाहट से कभी-कभी लेखनी फिसल जाती है या जरूरत से कम पावर का चश्मा लगाने के कारण कभी-कभी आंखें गड़ानी पड़ती हैं, परन्तु मेरी अंतरात्मा है बिलकुल दूध की धोई, और यह शरीर तो इतनी नादिरशाही निगरानी में रहता है कि इसके बहकने की कोई गुंजाइश ही नहीं। यदि कलकत्ता पहुँच पहले ही दिन मैं दत्त महोदय की खोज में गया तो केवल इसलिए कि भले आदमियों की इस महानगरी में मुझे भवानीपुर के उस घर में ही सुरक्षा प्राप्त हो सकती थी। वहाँ पहुँच कर ज्ञात हुआ कि दत्त महाशय तो महाप्रयाण कर गए और उनकी पुत्री ने विवाह कर कहीं घर बसा लिया है। वह कहाँ रहती है, इसका कोई पता न दे सका।

मेरा मन खिन्न हो गया। इस विशाल नगरी में कहाँ जाऊँ, क्या करूँ, यह सोचते-विचारते मैं निरुद्देश्य चल पड़ा। घूमते-फिरते मैं

'मैदान' अर्थात् कलकत्ता के प्रमुख खेल के मैदान के पास जा लगा। चारो ओर भीड़ थी। खेल-कूद हो रहे थे। बीच-बीच में तालियाँ पिट रही थीं। मैं भी भीड़ में घुस कर खेल देखने लगा। एक ओर हाकी का खिलाड़ी गेंद लेकर गोल की ओर झपट रहा था। केवल एक फ़ुल बैक को पार करना बाक़ी था। उसके समीप पहुँच उसने अपने साथी को गेंद 'पास' की। ऐसा जान पड़ा कि गोल हुआ ही चाहता है पर फ़ुल बैक ने झपट कर गेंद बीच ही में रोक ली और वह टुल्ला उड़ाया कि दर्शक उछल पड़े, और सब में अधिक उछला मैं क्योंकि वह फ़ुल बैक अज़ीज़ था।

खेल खत्म होने पर चुपचाप जाकर मैंने अज़ीज़ की पीठ पर हाथ रख दिया। घूमकर वह मुझे देख भौंचक्का-सा रह गया; फिर बोला—"अरे तुम, कब, कहाँ, कैसे ?"

मैंने कहा—"क्यों रे, कलकत्ते रहकर तू पूरा अरकाटी हो गया है। दो साल पहले मैं यहाँ एक महीने के ऊपर रहा, तुझे ढूँढ़ता रहा, पर तूने अपने पिता तक को ठीक पता नहीं दिया ? आज तो तक़दीर ही थी कि मैं तुझ पर फट पड़ा।"

वह—"ऐसा नहीं है। बाबा ने जानबूझ कर ही मेरा ठीक पता न दिया होगा या पुराना पता दिया होगा।"

मैं—"क्यों ?"

वह—"अब घर चलो। वहीं सब बातें होंगी।"

हम लोग चौरंगी की सड़क पार कर एक ऐसी सड़क में घुसे जहाँ भीड़ कम थी। उसी ने बात छेड़ी—"तुम हम लोगों को धर्मान्ध यानी कट्टर कहते हो न ?"

मैं—"कहते तो हैं।"

वह—"बाबा तो बूढ़े हैं। उन्हें और भी कट्टर होना चाहिए।"

मैं—"ज़रूर।"

वह—"मैंने धर्म के विरुद्ध कुछ बात करने की ठान ली थी। बाबा नहीं चाहते थे कि वह बात गाँव-घर में फैले। इसी लिये पता ठीक से नहीं दिया होगा।"

मैं—"आखिर हुज़ूर ने ठानी क्या थी ?"

वह—"अब तो हो भी गई—शादी।"

मैं—"बुरा हुआ, पर बहुतेरों की तो हुआ करती है।"

वह—"बिरादरी में। मैंने गैर बिरादरी में की है।"

मैं—"बहुत अच्छे ! इस्लाम कब से इतना संकुचित हो गया कि गैर-मज़हबी को कलमा न पढ़ा सके ?'

वह—"पढ़ा तो सकता है, पर मेरी पत्नी अपने, ब्राह्म धर्म को इतना चाहती है कि मैं उसे मजबूर नहीं कर सकता।"

मैं—"तो तुम्हीं बदल डालो। ब्राह्मसमाजी तो तुम भी हो सकते हो।"

वह—"मैं बदलूँ तेरा सिर ! मेरे मज़हब को तू कभी समझ ही नहीं पाएगा।"

इतने में वह एक फ्लैट के सामने रुका। उसने घंटी बजाई। दर्वाजा खुला, और दर्वाजा खोलने वाली थी—सुविमल। आज चकित कर देने वाली घटनाओं का दिन था। मैं ने कहा—"तुम!" उसने कहा—"आप !" और अज़ीज़ ने कहा—"यह क्या ?"

मैं ने कहा—"जब मैं पिछली बार कलकत्ते आया था, तब ये मेरी पड़ोसिन थीं।"

अज़ीज़—"और अब हैं तेरी भाभी। जल्दी पैर पड़, काफ़िर !"

फिर तीनों एक साथ बातें करने लगे। सब बे-कान-पूँछ के प्रश्न

और उत्तर। इसी तरह भीतर पहुँचे तब अज़ीज़ ने कहा—"मैं जरा कपड़े बदल लूँ।"

सुविमल से मालूम हुआ कि कालेज में ही दोनों का प्रेम हो गया था, पर दोनों के पिता आपत्ति करते थे। इसीलिए मेरे पिछले प्रवास के समय अज़ीज़ का उस के घर आना-जाना नहीं होता था। परन्तु सुविमल के पिता अंतिम क्षण में दोनों का हाथ पकड़ा गए थे। अब दोनों रोज़ी-रोजगार में लगे हुए हैं और खूब मज़े में हैं।

अज़ीज़ आया तो सुविमल चाय बनाने चली गई। रात हो रही थी। खिड़की से बाग़ीचा दिख रहा था। उधर चाँद निकला और इधर हुगली मैया की ओर से हवा का एक ठंडा झोंका आया। अज़ीज़ उठा, धीरे से टेबल पर से बाँसुरी उठाई और बजाया :

'हम इश्क़ के बन्दे हैं। मज़हब से नहीं वाकिफ़।'

मैं ने कहा—"वाह बेटा, वाह ! सुनी तो बहुतेरों से थी पर ठीक तर्ज एक तू ही उतार पाया।"

बिजली

जिस में प्रतिभा है, उसे रंग जमाते कितनी देर लगती है? देखिए, कैसे ढंग से बात शुरू की गई है कि पढ़ने वाले को अपने आप आगे का हाल जानने की उत्सुकता होती है :—

'वीर-मंडल की महाविद्या, महामाया नहीं,
बालि की वनिता न समझो, जीव की जाया नहीं,
सत्यसागर, सूरमा हरिचन्द की रानी नहीं,
आप ने यह पाँचवीं तारा अभी जानी नहीं।'

है तो तारा, परन्तु शक्तिशालिनी महामाया है क्या? नहीं। वालि की पत्नी है क्या? नहीं। वृहस्पति की भार्या? नहीं। हरिश्चन्द्र की रानी भी नहीं। अजी, इस पाँचवीं तारा,—केरल की तारा, को आप तब जानेंगे, जब आगे पढ़ेंगे।

एक बार मैं भी अपनी प्रतिभा की अग्नि-परीक्षा कर के देखता हूँ। आकाश में चमक कर, ठीक राजा बलि की छाती पर गिरने वाली बिजली, वह नहीं थी। हमारे साइंस मास्टर की बतलाई धन-विद्युत, वह नहीं थी। ऋण-विद्युत भी वह नहीं थी। और मार्टिन कम्पनी की बदौलत गली-गली टिमटिमाने वाली बिजली तो वह बिलकुल ही नहीं थी। हमारी बिजली……

परन्तु आप के ऊपर तो इस भूमिका का कुछ असर ही नहीं हुआ। इस धन-विद्युत, ऋण-विद्युत और मार्टिन कम्पनी की ठूँसठाँस

ने सारा मज़ा ही किरकिरा कर दिया। इससे अच्छा तो यह होता कि हम सच बात ही लिख देते कि हमारी बिजली आँखें चौंधिया देने वाली और, आप यदि अतिशयोक्ति न मानें, तो एक ही कड़क में अनेक गर्भ-पात करा देने वाली बिजली थी। वह केवल शक्ति नहीं, ईश्वर की एक जीती-जागती देन थी।

और, थी वह रानी। सारी प्रजा उससे थरथर काँपती थी, उसकी आँख के इशारे से चलती थी। परन्तु बुरा हो इस मनहूस इश्क़ का और उस बेईमान मोती का। राज गया, पाट गया, इज्ज़त गई, हुकूमत गई और जो-जो कुछ हुआ वह घटनाओं की ज़बानी ही सुनिए।

एक दिन वह सेनापति और मुसाहिबों के साथ भ्रमण कर रही थी कि दूर से मोती आता हुआ दीख पड़ा। यों किसी का आगमन-मात्र आपत्तिजनक नहीं है, पर राज-मद तनिक भी अवहेलना सहन नहीं कर सकता; और मोती इस लापरवाही से आगे बढ़ रहा था जैसे किसी ऐरे-ग़ैरे से भेंट करने आ रहा हो।

बिजली ने तुनक कर सेनापति से कहा—"देखो तो, यह कौन उजड्ड की तरह चला आ रहा है ? न आदाब, न तमीज़, न कोर्निश !"

ग़ौर से देखकर सेनापति ने कहा—"अपने राज्य की प्रजा तो नहीं है, महारानी। कोई अजनबी जान पड़ता है। आज्ञा हो तो एक ऐसी दुच्च दूँ कि कुछ तमीज़—तहज़ीब का ज्ञान हो जाय।"

"ठहरो, सेनापति !" बिजली ने कहा, "आज के सुहावने मौसम में मेरी खुद की इच्छा कुछ पाठ पढ़ाने की हो रही है।" और वह मोती पर झपट पड़ी।

मोती पहले तो पहाड़ की तरह अचल हो गया, फिर शांतिपूर्वक बिजली के वार को बचाकर, बोला—"अरे, अरे ! यह क्या करती हो?"

पैंतरा बदलते हुए बिजली ने कहा—"हेकड़ी और बदतमीज़ी की कुछ सजा देती हूँ ले, सँभल !"

मोती फिर तरह दे गया और मुस्करा कर बोला—"वाह ! अतिथि का स्वागत तो आप लोग बहुत अच्छा करते हैं ! परन्तु युद्ध ही यदि इस राज्य का नियम है तो पुरुष-वर्ग के किसी व्यक्ति को भेजो। हम लोग स्त्री-वर्ग का युद्ध से कहीं अधिक अच्छा उपयोग करना जानते हैं।"

बिजली सोचने लगी—यह क्या ऊल-जलूल बकता है, कुछ समझ में नहीं आता। उससे पूछा—"तू ने क्या कहा,—अतिथि ?"

मोती—"और क्या ?"

बि०—"पर अतिथि कहते किसे हैं ?"

मोती ने हँस कर कहा—"बड़े सभ्य हो, तुम लोग। अतिथि भी नहीं जानते। अरे, जो परदेशी तुम्हारे घर आ पहुँचे, वही अतिथि है।"

बि०—"बिना बुलाए, बिना पूछे ?"

मो०—"हर्ज क्या है ? यदि कोई बिना बुलाए, बिना पूछे ही आ गया, तो क्या वह दुश्मन हो गया ?"

बि०—"मान लो नहीं हुआ। पर अतिथि का किया क्या जाता है ?"

मो०—"आदर-सत्कार किया जाता है। उसे रोट और गुड़ खिलाया जाता है। उससे आने का कारण पूछा जाता है और यदि वह कोई सहायता चाहे तो सहायता की जाती है।"

बि०—"ठहरो, एक क्षण ठहरो ! यह रोट और गुड़ क्या होता है ?"

मोती का ठहाका चारों दिशाओं में गूँज गया। उसने कहा—"मैं

पहले ही समझ गया था। तुम लोग तो जंगली हो निरे जंगली। इतना भी नहीं जानते कि रोट और गुड़ क्या होता है। अच्छा, तुम्हारे यहाँ राजा-रानी क्या खाते हैं या तिथि-त्यौहार के अवसरों पर प्रजा ही क्या खाती है ? "

सेनापति को यह व्यंग अच्छा न लगा—"ओ हूश, ज़रा होशहवाश में बातें कर। यदि फिर से महारानी की शान में जँगली-अँगली शब्द का प्रयोग किया तो हड्डी-पसली तोड़-ताड़ कर रख दूँगा। "

इतना कह कर वह आज्ञा की प्रतीक्षा करने लगा परन्तु बिजली ने कहा—"ज़रा ठहरो तो सेनापति। अभी इस ढोल की पोल खुली जाती है।" उसने मोती से पूछा—"क्यों जी अतिथि महोदय, तुमने कभी कटहल खाया है ?"

अब की मोती ने विस्मित होकर पूछा—"कटहल क्या ?"

सब लोग व्यँगपूर्वक हँसने लगे। बिजली ने कहा—"आइए, आप को कटहल खिलाएँ कि बाद में याद करके जीभ चाटने का सहारा रहे।"

सब एक ओर पिल पड़े। कटहल से लदे हुए वृक्षों के पास पहुँच उन्होंने प्रेमपूर्वक मध्यान्ह भोजन आरम्भ कर दिया। बिजली ने पूछा—"कैसा लगा ?"

मोती—"यों अपने आप में अच्छा है, पर गुड़ गुड़ ही है ! कहाँ गुड़, कहाँ कटहल !"

वि०—"सच ? "

मो०—"क्या अजब कि किसी दिन सच-झूठ का फैसला हो जाय। "

वि०—"खैर, देखा जायगा। आदर सत्कार तो हो चुका। अब हम गुड़-विहीनों के घर पधारने का कारण भी बतला दीजिए। "

मोती की आँखों में एक शरारत की लहर दौड़ गई। वह शहरी

छैलचिकनिया था। छेड़ का मौका पहचानता था, लच्छेदार बातों से मतलब निकालना जानता था। बड़े नाज़ो-अन्दाज़ से बोला—"सच बात तो यह है कि मैं एक रूपवती गुणवती रानी की खोज में देश-देश का भ्रमण कर रहा हूँ। कदाचित अब आशा पूरी हो जाय।"

सेनापति के तन-बदन में आग लग गई। वह बिजली का सर्वाधिक चहेता था। गिरोह भी उसे भावी सम्राज्ञी-पति के रूप में देखता था। एक परदेशी से इस तरह घुलघुल कर बातें करते देख, वह यों भी ईर्ष्या से जला जा रहा था। अब इस खुल्लमखुल्ला छेड़ से उसका कलेजा तिलमिला उठा। उसकी सूड़ से एक तीखी 'किर्र' निकल पड़ी और वह मोती पर झपटना ही चाहता था कि बिजली ने एक तीक्ष्ण दृष्टि से उसे ठंडा कर दिया। सब जानते थे कि इस बिजली का प्रहार आस्मानी बिजली के प्रहार से कम नहीं होता। इसलिये सिट्टी-पिट्टी भूले रहते थे। इधर बिजली पर उस नागर-नट का जादू चल चुका था। उसने मुस्कराते हुए मोती से पूछा—"तो क्या आप राजा हैं?"

मोती ने कुछ रुष्ट होकर कहा—"और अब तक क्या आप यह समझती थीं कि मैं कोई खवास हूँ।"

वि०—"वैसी बात नहीं, पूछने में भी कोई हर्ज़ है?"

मो०—"बिलाशक हर्ज़ है। जब आप देख सकती हैं तो पूछती क्यों हैं?"

वि०—"क्या देख सकती हूँ?"

मोती ने छाती फुला कर सूँड़ उठा कर माथे और खीसों की ओर इशारा कर दिया। उसने और उसके साथियों ने देखा कि मोती के माथे पर कुछ लाल-पीली चित्रकारी बनी हुई है और दातों में चमकदार पटलियाँ गँसी हुई हैं।

बिजली ने पूछा—"ये क्या हैं ?"

मो०—"इतना भी नहीं जानतीं ?"

वि०—"नहीं ।"

मोती ने गर्दन उठा कर, मद भरी आँखों से देखते हुए कहा—"ये राजा मोती गज के राज-तिलक के चिन्ह और राजसत्ता के आभूषण हैं।"

बिजली ने एक व्यंगपूर्ण दृष्टि सेनापति की ओर फेंकी, जिसका मतलब था—"देखा ?"

इस बार सेनापति तनिक भी विचलित नहीं हुआ । माथे का चन्दन-वन्दन देखते हुए उसने मोती के कानों के पास कुछ घाव-से देख लिए थे । उसे बुजुर्गों के कहे हुए कुछ फाँस-फसाव के किस्से याद आ रहे थे। उसने कहा—"ज़रा राजा साहब से यह तो पूछिये कि उनके कानों में ये घाव क्यों कर हैं ?"

एक क्षण के लिये मोती सकपकाया पर उसकी स्वाभाविक धूर्तता तुरँत आड़े आ गई । उसने पूछा—"क्या कहा, कान के पास ?"

सेना०—"हाँ ।"

मो०—"बहादुरों को चोटें लगती ही रहती हैं। उनकी क्या चरचा ?"

सेना०—"फिर भी ?"

मो०—"देखो भई, शेखी हाँकना तो अपना शेवा नहीं पर बात ऐसी हुई कि मैं तो शांति और अँहिसा की भावना लिए हुए जँगल में चला जा रहा था कि झाड़ी से एक शेर मुझ पर झपटा ।"

शेर का नाम सुनते ही सब लोग चौकन्ने हो गए। संयुक्त रूप से तो वे जानते थे कि अकेले-दुकेले शेर से मुठभेड़ होना यमराज से भेंट होना ही है ।

बिजली ने उत्सुक्ता से पूछा—"फिर क्या हुआ ?"

मो०—"होता क्या, वही दो-दो चोटें। सिर पर आने के पहले ही मैं ने उन्हें एक पीपल की पीड़ से दबोच दिया। बेटा बहुत कुड़मुड़ाए पर जब-तक अँतड़ियाँ नहीं निकल गईं, तब-तक मैं दबोचे ही गया। और ईनाम में ये कुछ खरोचें मुझे भी मिल गईं।"

बिजली ने पूर्ण अवहेलना से सेनापति की ओर देखा। उसने सोचा—'देखा जायगा। जो बहुत गरजता है, वह बरसता नहीं।'

(२)

मोती इस राज्य में आ कर आवदार हो गया। जो इज़्ज़त बिजली की थी, वही उसकी भी थी। कभी-कभी हज़रत को भँवर दीख पड़ने लगता था पर दंद-फंद के सहारे वह किनारा काट जाया करता था।

एक दिन खबर मिली कि राज्य में एक शेर घुस आया है। इस गजयूथ के लियें एक ही केसरी महाभयानक हो सकता था। सलाह होने लगी कि मरें या जियें, सब मिल कर उसे मारें या खदेड़ें। मौका देख कर सेनापति ने कहा—"सब लोगों के जाने की क्या ज़रूरत? हमारे राजा साहब तो अकेले ही शेर के लिये काफ़ी हैं। हम लोग भी चलें पर दूर से द्वंद्व युद्ध का आनन्द लें।"

मोती बगलें झाँकने लगा पर झट उसे एक बहाना सूझ गया। उसने कहा—"अजी, ऐसे कितने शेर इन पैरों के तले रौंद चुका हूँ। पर क्या कहूँ, आज मैं ने मिट्टी खा ली है। लाचारी है, पर कुसूर तुम्हारे रद्दी भोजन का है, जिसने मेरा पेट बिगाड़ दिया।"

जुलाव लेने के इस बहाने से एक ओर तो मोती ने आक्रमण में जाने से पिंड छुड़वाया, दूसरी ओर बिजली के दिमाग़ में सेनापति के प्रति झुँझलाहट पैदा कर दी। उसने झिड़क कर कहा—"देखो सेनापति, तुम ज़बरदस्ती अपनी राय मत ठूँसा करो। जाओ, हमले की

तैयारी करो ।" और मोती से कहा—"कोई बात नहीं है, मित्र ! तुम ने मिट्टी खाली है तो आराम करो। हम लोग अभी हमले से लौट कर आते हैं और आशा है कि मार कर ही आएंगे ।"

मो०—"क्या कहूँ, रानी । दिल के अरमान दिल में ही रह गए । जब ईश्वर ने पौरुष दिखाने का संयोग पैदा किया, तभी यह गलती कर बैठा ।"

वि०—"खैर, फिर देखा जायगा ।"

मोती जानता था कि रोज़-रोज़ तो शेर से युद्ध होता नहीं । अभी तो अलफ़ कटी सो कटी । अगले हमले के पहले ही और भी बहुत-सी बातें हो सकती हैं ।

शिकार से लौटने पर मोती ने पूछा—"क्या हुआ ?"

बिजली—"शेर का तो कचूमर निकल गया पर हमारे भी दो साथी काम आए ।"

मो०—" अफ़सोस ! पर तुमने शेर को मार क्यों डाला ?"

वि०—"तो क्या करते ?"

मो०—"अधमरा कर, पिंजड़े में बन्द कर देते ।"

वि०—"पिंजड़ा क्या ?"

मो०—"लोहे का कटघरा, जिसमें दुश्मन को कैद किया जाता है ।"

वि०—"हमारे यहाँ तो पिंजड़ा नहीं है ।"

मो०—"अच्छा, मैं अपने आदमियों से कह कर भिजवा दूँगा ।"

वि०—"आदमी क्या ?"

मो०—"आदमी नहीं जानती,—दो पैर का दुर्बल, अभागा जीव, जो हमारी लीद उठाता है और इसी प्रकार की सेवा करता है ।"

इन्हीं बातों से मोती की इज्ज़त थी । बिजली उसकी रसिकता और अनुभवशीलता पर फिदा थी । किसी की इतनी हिम्मत नहीं कि उसकी

मर्ज़ी में दखल दे सके ! इसलिये मोती की भी सब ढँकी-मुँदी चली जा रही थी ।

(३)

एक दिन गप-शप करते केवल विजली और मोती, जंगल से दूर एक गाँव किनारे जा लगे । गाँव के आसपास गन्ने के खेत लहलहा रहे थे । उन्हें देख मोती के मुँह में पानी आ गया । उसने कहा—"आओ बिजली, तुम्हें एक नई चीज़ खिलाएँ ।" दोनों एक खेत में पिल पड़े और रस-पान करने लगे । विजली को तो जैसे अमृत मिल गया । मोती ने पूछा—"कैसा लगता है ?"

विजली ने जीभ चाटते हुए कहा—"कैसा बतलाऊँ ?"

मो०—"कटहल से ?"

बि०—"कहाँ गन्ना और कहाँ वेचारा कटहल ।"

मो०—"यदि हम रस को जमा कर कोई तुम्हें कटहल के समान पिंडियों के रूप में दे देवे तो ?"

वि०—"तो बस, जीवन सफल हो जाय ।"

मो०—"अच्छा, तो सुनो विजली, इसी रस को जमा कर गुड़ वनाते हैं, गुड़ !"

बि०—"नहीं ?"

मो०—"मैं फिर कहता हूँ : इसी रस को जमा कर गुड़ वनाते हैं ।"

वि०—"और तुम अपने राज्य में रोज़ गुड़ खाते हो ?"

इसके जवाब में मोती केवल शरारत से मुस्करा दिया । स्त्री-सुलभ कटाक्ष का प्रयोग करते हुए बिजली ने पूछा—"मोती तुम कभी अपना राज्य मुझे न दिखाओगे ?"

मो०—"जरूर दिखाऊंगा ।"

वि०—"कब ?"

अर्से से जिसकी प्रतीक्षा कर रहा था, वह दाँव मोती के हाथ लगा। बिजली की आँखों में आँखें डाल कर उसने कहा—"जब तुम मेरी प्राणों से भी प्रिय रानी बनना स्वीकार कर लोगी।"

बिजली सूँड़ से लेकर पूँछ तक लज्जा से लाल हो गई। अधखुली आँखों से मोती को देखते हुए उसने धीमे-धीमे, मीठे-मीठे कहा—"क्या कोई ऐसी भी अभागिन हस्तिनि है जो तुम्हारे समान महातेजस्वी के प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दे ?"

बुरा हो उस इश्क़ का जिसने न जाने कितने घर बर्बाद कर दिए, परन्तु—'आगे-आगे देखिए, होता है क्या ?'

(४)

अब दोनों का एकान्त भ्रमण, मधु-यामिनि-महोत्सव तथा गन्ना-रस सेवन नित्य नियम हो गया। गिरोह बेचारा उनके सत्सँग से वँचित रहने लगा।

पहुँचते-पहुँचते दुर्बल, अभागे, दो पैर के राजा तक खबर पहुँची कि उसके गांवों के गन्ने के खेतों में एक गज-दम्पति बहुत उत्पात मचा रहा है। तुरन्त उसे शिक्षा देने और गांवों की सुरक्षा के लिये सवार, भालेदार, महावत आदि भेजे गए ; मुख्य महावत, भुजबल ने मोती को देखते ही पहचान लिया कि हज़रत वही हैं जो कुछ दिन पहले राजा की हथसाल से भाग निकले थे। भुजबल की तुरन्त तनज्जुली कर दी गई थी। छल-बल से फिर उसे फांस ले तो तरक्क़ी का रास्ता खुल जाय। उसने सवारों, भालेदारों तथा अन्य सहयोगियों को साज-सामान के साथ उचित स्थानों पर छिपा दिया और अँकुश अपने कपड़ों में छिपा तथा गुड़ की भेलियां दोनों हाथों से उछालते, वह भगोड़े को फुसलाने के लिए आगे बढ़ा।

उसने कहा—"मोती, बेटा! मैं हूँ भुजबल। और लाया हूँ तेरे लिये ढ़ेरों गुड़। आ तो, राजा हो जा!"

मोती ने देखा भुजवल। मोती ने देखा गुड़। उसके हृदय में एक सँग्राम होने लगा—'कहाँ यह स्वतन्त्र वायुमण्डल, बिजली का प्रणय और गिरोह पर शासन, और कहाँ केवल दो-चार सेर गुड़। नहीं जाऊँगा। एक बार स्वतन्त्र हो गया हूँ, फिर से दास नहीं बनूँगा। फिर से सांकलों में नहीं बँधूँगा; अँकुश से नहीं बिधूँगा।'

भुजबल ने फिर से पुकारा—"अरे, मेरी आंखों के तारे! अपने प्यारे महावत को ही भूल गए? आओ, चखो तो! कैसी गोल-गोल, भारी-भारी, मीठी-मीठी भेलियाँ हैं!"

मोती की विचार-धारा बदली—'गुड़? आह! कितने दिन हो गए गुड़ खाए? स्वतन्त्र वायु मण्डल में और सब अच्छा है, पर कभी कभी शेर का हमला! बाप रे बाप! एक बार मिट्टी खाने का बहाना करके बच चुका हूँ। फिर वही सँकट आया तो? बेचारे दो साथी तो पिछले हमले में शहीद हुए। कौन जाने अब की मेरी वारी हो। इससे अच्छी तो अँकुश की मार है। कान सड़ जाते हैं, पर जान तो नहीं जाती। और बिजली? बिजली तो अब मेरी विना दाम की दासी है। खूब शग़ल रहेगा—रोट, और गुड़, और बिजली!!'

मोती ने एक परिचयात्मक 'किर्र' की आवाज़ दी। भुजवल की वाछें खिल गई। "पहचान लिया, वेटा, शावाश!" कहते हुए वह कुछ आगे बढ़ा।

"कौन है? बड़ी देर से टें टें लगाए हुए है? दूँ हज़रत को एक दुच्च?" बिजली ने पूछा।

मो०—"अरे, कहीं ऐसा करना भी मत। मेरा पुराना, आज्ञाकारी नौकर है।"

वि०—"क्या चाहता है ?"

मो०—"वह क्या चाहेगा, बिजली ? बहुत-सा गुड़ लाया है और लाया है वापस लौट चलने की रियाया की फ़रियाद।"

वि०—"गुड़ ?"

मो०—"हाँ।"

वि०—"चलो न, ज़रा चख कर देखें।"

मो०—"चलो।"

मोती बढ़ा, बिजली भी साथ हुई। भुजबल के लिये जीवन-मरन की समस्या उपस्थित हो गई। कपड़ों में अँकुश छिपा था। चारो ओर सहायक तैनात थे। मोती से लोहा लेने की हिम्मत तो उसमें थी। परन्तु यह नवीना ? जिसको न 'धत्' का शऊर, न 'मल्' का ! अब सोच-विचार के लिए समय ही कहाँ था ? उसने सोचा कि हथसाल में एक अदद बढ़ने से या तो लड़के को भी महावती मिलेगी या यहीं के यहीं लड़के की माँ विधवा होगी।

मोती ने सूँड़ से गुड़ की भेली ली और बिजली की ओर बढ़ा दी। दूसरी भेली उसने अपने मुँह में डाली। भुजबल के एक इशारे से गुप्तचर प्रगट हो गए और भेलियों के ढेर लग गए। दोनों ने जी भर कर गुड़-सेवन किया। कृतज्ञता से बिजली पानी-पानी हो गई। जब भुजबल मोती के सिर पर चढ़ने लगा तो उसने पूछा—"यह क्या ?" मोती बोला—"यदि हम इन दुर्बल, अभागे जीवों के सिर पर चढ़ें तो ये जीते बचेंगे !" इसके बाद बिजली ने कोई आपत्ति नहीं की और पूँछ की तरह मोती के पीछे लग गई।

राजधानी पहुँचते-पहुँचते मोती का जी भरमाया और उसने सोचा कि लौट चले। ज्यों ही उसके पैर तनिक ठिठके कि खच्च-से अँकुश कान खरोंच गया। उसने सोचा—'मैं तो डूबा पर बिजली के लिये अब भी समय है।' उसे पुकारा। वह बराबरी से आन लगी।

वह गोल-मटोल शरीर ! वे छोटी-छोटी चमकदार आँखें ! वह रग-रग से छलकता यौवन ! वह मस्तानी चाल, जिसे देख कवि झूमझूम जाते हैं ! मोती अपने शुभाशय से फिसल पड़ा। उसने कहा—"बिजली, बहुत दिनों के बाद मैं पुनः राजधानी में प्रवेश कर रहा हूँ। ज़रा साथ-साथ चलो। प्रजा सम्राट-सम्राज्ञी की जोड़ी देखना चाहेगी।" "बहुत अच्छा" कह कर बिजली साथ हो ली।

भीड़ को मोती ने प्रजा, हथसाल को महल और महावत आदि को नौकर-चाकर बतलाया। परन्तु रात में जब किसी ने चुपके-चुपके, हिकमत से, भोली-भाली, सोती हुई बिजली के पैरों में साँकल पहना दी, तब उसे अपने अधःपतन का ज्ञान हुआ।

(५)

वह बहुत उछली, कूदी, चिल्लाई। साँकलें तोड़ने का प्रयत्न किया तो उल्टे पैरों को ही चोट पहुँची। दाँत पीस कर मोती पर झपटी परन्तु मोती की स्थिति उससे विभिन्न थी। वह जन्मजात गुलाम था। उसने आनन-फानन परतंत्रता स्वीकृत कर ली और उसकी बेड़ियाँ खोल दी गईं। वह जान बचाने के लिये भाग खड़ा हुआ। उसके लिये दूसरे हथसाल की तजवीज़ कर दी गई।

बिजली थी नई फँसी हुई चिड़िया। जितना प्रयत्न वह छुटकारे का करती उतना ही अत्याचार उस पर ढाया जाता। रोट और गुड़ की जगह अब सूखी घास और पीपल की पत्तियों पर गुज़र होने लगी। वह भी जब महावत को सिर पर चढ़ा कर 'धत' कहते ही बैठ जाती और 'मल' के इशारे पर, साँकल पिरोये पैरों से, लँगड़ा-लँगड़ा कर चलने लगती। यदि इन आज्ञाओं के पालन में तनिक भी आनाकानी हुई तो अँकुश से कान खरोच डाले जाते और चार पहर का दिन बिना दाना-पानी के काटना पड़ता। जहाँ जाती, सिर पर अँकुश लिये

महावत होता और पीछे भालेदार और सवार। मार खाते-खाते कान पक गए, रोते-रोते आँसुओं की लकीरें बन गईं और इस पराधीनता पर विसूरते-विसूरते जिस गोल-मटोल शरीर के गठन की धूम थी, उसमें हड्डियाँ दीखने लगीं।

एक दिन मोती ने देखा तो उसका भी सिर झुक गया और आँखों से दो बूँद आँसू निकल पड़े। उसने कहा—"माफ़ करो बिजली और भूल जाओ पिछली बातें। ये दुर्बल, अभागे मनुष्य पशुओं से भी गए बीते हैं। इनका कहना मान लिया करो। इस तरह जान देने से क्या फ़ायदा ?"

बिजली व्यंगपूर्वक मुस्कराई। उसने मन ही मन कहा, ठहर रे धूर्त तुझ से तो एक दिन बदला ले कर ही रहूँगी।

इस प्रतिज्ञा के बाद बिजली ने अपनी रवानी बदल दी। वह शांति पूर्वक आज्ञा मानने लगी। महावत ने सोचा कि अब आई रँड़ो राह पर। कुछ दिन बाद पीठ पर हौदा रखा गया। बिजली ने कोई आपत्ति नहीं की। और कुछ दिन ठहर कर, साँकलें भी खोल दी गईं।

एक दिन राजासाहब की शिकार की तैयारी हुई। उन्होंने महावत को बुलवा कर पूछा—"बिजली हाँके में जायगी ?"

महावत—"जायगी अन्नदाता ! "

एक अर्से की गुलामी के बाद हरा भरा, अगाध जँगल देख कर बिजली का हृदय छलांगें भरने लगा। उसने सोचा—'चलूँ, अब मुझे रोकने वाला कौन है ?' परन्तु चारो ओर हथियार बन्द सैनिकों की भीड़ थी, सिर पर महावत था और पीठ पर हौदा। यह अपरूप बोझ लादे हुए वह अपनी प्रजा को कौन-सा मुख दिखलाएगी ? फिर अभी मोती से बदला लेना बाकी था। वह फिलहाल मन मार कर रह गई।

हांका शुरू हुआ। उसके हृदय में फिर से पुराना जोश उमड़ आया। वह भूल गई कि वह कैदी है, दासी है, सेविका है। वह उन अत्याचारों को भूल गई जो उस पर गिन-गिन कर किए गए थे। उस को केवल इतना ज्ञान रह गया कि वह जंगल में है, जँगल उसका घर है और उसके घर में उसका कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता। वह एक जन्मजात शिकारी की तरह शिकार मग्न हो गई।

झाड़ियों से एक शेर निकला। ठीक हाँका करते हुए वह राजा साहब की मार पर पहुँचाया गया। निशाना साध कर गोली चलाई गई पर वह उछाती लगी। घायल शेर चिघांड़ता हुआ एक सूखे नाले में कूद गया।

राजा ने हाथी पर बैठ घायल शेर का पीछा करने का निश्चय किया। मोती बुलाया गया। वह थरथराते हुए पहुँचा। राजा हौदे पर बैठे, पर लाख अँकुश मारने पर भी मोती टस से मस न हुआ। इधर बिजली रोके नहीं रुकती थी। राजा पीछा करे या न करे, वह घायल शेर पर टूटना चाहती थी। यह जोश देख कर राजा उसके हौदे पर आ बैठे। जाते-जाते बिजली ने कहा—"आइए न, राजा मोती गज! आप तो शेर को पिंजडे में वन्द कर लेते हैं।"

मोती ने झुंझला कर कहा—"चुप रांड़।"

बिजली ने कहा—"धिक्कार है रे डरपोक!" और आगे बढ़ गई। उसने निर्भय, शेर का पीछ किया। अचानक शेर नाले से बिजली पर उछला। बिजली ने फिर भी तड़प कर पैतरा बदला, पर आपसी मार-काट के पहले ही राजा की गोली शेर की छाती पार कर गई। फिर भी बिजली झपटी और उसके सिर पर पैर रखकर मचमचाने लगी।

उसी दिन से बिजली राजा साहब की पटरानी की तरह प्रिय हो गई। रोट-गुड़ की कौन कोहे, शिकार के लिये जाने के पहले और लौटने पर बाल्टियों दूध और सेरों जलेबी से सत्कार किया जाता।

दूसरे-चौथे राजा खुद हथसाल जाकर उसकी मिज़ाजपुर्सी करते और अपने हाथ से भोजन कराते। इतना सब होते हुए भी बिजली का जी हर क्षण अपने राज्य के लिये व्याकुल रहता। वह पुश्त-दर-पुश्त, रानी थी। दूसरों की कृपा प्राप्त करना उसका शेवा नहीं था। दूसरों पर कृपा-वृष्टि करना ही वह रानियों का स्वाभाविक गुण मानती थी।

(६)

एक दिन चराते-फिराते महावत बिजली को निकटवर्ती घाटी पर ले गया। एक ओर से दूसरा महावत मोती को लिए वहीं आ पहुँचा। दोनों महावत उतर कर चिलम-तमाखू में लग गए।

बहुत दिनों के बाद बिजली ने हँस कर मोती से बातचीत की। मोती ने सोचा कि अब रंडो में कुछ सभ्यता आई है। मोती घाट पर खड़े हो बिजली को पीपल की डालियाँ तोड़-तोड़ कर देने व खुद भी पत्तियाँ खाने लगा। बिजली ने निश्चय कर लिया कि अब समय आ गया है। उसने खेल ही खेल में सिर भिड़ा दिया और लगी मोती को पीछे धकियाने। जब मोती बिलकुल किनारे जा लगा, तब उसने कहा—"बस, बस, पीछे गहरी खाई है।" बिजली ने कहा—"उसी खाई में ढकेल कर तुझे सारी धूर्तता की सजा दे रही हूँ, रे पापी!" मोती 'अरे, अरे' कहता रह गया और बिजली ने उसे सौ फुट नीचे ढकेल ही दिया। आज भी वहाँ मोती की समाधि बनी हुई है।

वह चिघाड़ती हुई महावतों की ओर बढ़ी। रंग-ढंग देख कर वे लोग एक ऊँचे झाड़ पर जा चढ़े थे। उनकी ओर देख बिजली ने कहा—"दो पैर के, लीद उठाने वाले, दुर्बल, अभागे जीव! जाओ, आज स्वतंत्र होने की खुशी में तुम्हारी नीच, कमीनी जानें बख्शे देती हूँ।" और उसने तूफान की तरह जंगल का रास्ता लिया।

इस समय बिजली के हर्षोल्लास का पारावार नहीं था। एक अर्से

के बाद अपने प्रमुख शत्रु को मार, दूसरे राज्य में ख्याति प्राप्त कर, वह अपने देश को लौट रही थी। इस बीच उस पर कैसे-कैसे जुल्म हुए। उसने सोचा—'कोई हर्ज़ नहीं। अनुभव से ही योग्यता आती है। पहले मुझ में शक्ति थी, ज्ञान नहीं था। अब वह कमी दूर हो गई। पहले में अधूरी रानी थी, अब पूरी रानी हूँ।'

जैसे-जैसे घर पास आने लगा, बिजली की उतावली बढ़ने लगी। कितनी परेशान हुई होगी उसकी प्रजा, कितना ढूँढ़ा होगा, कितना वियोग मनाया होगा! अब एक-एक क्षण बिजली के लिये एक-एक युग था। कितनी जल्दी पहुँचूँ और संगी-साथियों से सब हाल कह सुनाऊँ और उनकी बीती सुन लूँ। चाल की तेज़ी से ज़मीन हिलने लगी। दूर ही से उसने अपने गिरोह को देखा। अपने आप एक हर्षपूर्ण किल-कारी निकल पड़ी। बिजली की तूफ़ानी चाल से गिरोह को पहले ही कुछ अनहोनी का संदेह हो गया था। वह आक्रमण या बचाव के लिये तैयार खड़ा था। किलकारी से बिजली को पहचान लिया। कुछ लोग स्वागत के लिये बढ़े भी, परंतु सेनापति ने डपट कर कहा—"ठहरो!"

बिजली ने और पास पहुँच कर कहा—"अरे, पहचानते नहीं? मैं हूँ, बिजली, तुम्हारी रानी!"

सब सेनापति का मुँह देखने लगे। उसने एक तीखी निगाह बिजली पर डाली। उस एक निगाह से उसे अनेक बातों का पता लग गया। उसने दाँत पीस कर कहा—"कुलटा! कलंकिनी! रानी बनने आई है; माथे पर कालिख लगवा कर, हम स्वतन्त्र लोगों की? जा, उसी मोती खसम के पास! एक भी क़दम आगे बढ़ाया तो इस बेशर्म ज़िन्दगी से हाथ धोना पड़ेगा।"

बिजली पर मानो घड़ों पानी पड़ गया। धीरज धर कर उसने कहा—"यह क्या बकते हो, सेनापति? मोती का ताना देते हो, मुझे?

अभी-अभी मैं उस वेह्या को मौत के घाट उतारे चली आ रही हूँ। सुन लिया ?"

सेना०—"क्यों ? क्यों ? वह तो बड़ा योग्य था, बड़ा सभ्य था, बड़ा बहादुर था, यहाँ काला मुँह ले कर आई है राज करने ? उसी के साथ सती क्यों नहीं हो गई ?"

अब बिजली तमतमा उठी। उसने दूसरों से कहा—"क्या खड़े हो, रे कायरो ! लाज नहीं आती तुम्हें अपनी रानी का अपमान कराते ? फोड़ दो इस दुष्ट का सिर, अभी !"

एक बूढ़े मुसाहिब ने हँस कर कहा—"कौन रानी, और किसकी रानी ? जो गैर के सामने हमारा अपमान करे और कराए, जो वंश-परंपरा को लात मार कर बेव्याहे भाग जाए, जिसके माथे पर व्यभिचार की छाप लगी हो, क्या वह हम ऐरावत वंशियों की रानी हो सकती है ? जा-चुड़ैल, जा। हम परतन्त्र बिजली की नहीं स्वतन्त्र सेनापति की प्रजा हैं।"

यह अपमान असह्य था। बिजली पिल पड़ी और उस बुढ़ऊ के सिर पर दिया धम्म से। उसे तो दुनिया लाल-पीली दिखने लगी, परंतु सब ने मिल कर चारो ओर से इतने प्रहार किए कि उसे डर लगा कि कहीं...

अभी वह अंतिम युद्ध के लिये तैयार नहीं थी। एक ओर हट कर लम्बी साँस ले और आँसू भर कर उसने कहा—"धोखेबाजो बेईमानो, यदि स्वयं मैं नहीं, तो एक दिन भगवान तुम्हें राजद्रोह का दण्ड अवश्य देगा।"

अब बिजली न घर की थी न घाट की। जिस ओर रास्ता मिला चलती हुई। कभी आबादी और कभी वीराने के आसपास गुज़र होने लगी।

(७)

दुनिया इतनी छोटी है कि पहुँचते-पहुँचते फिर बिजली की ख़बर राजा के पास पहुँच गई। वे तो स्वयं बिजली के लिए व्याकुल थे; अन्न पानी विष-सा लगने लगा था। मोती के मरने का उन्हें इतना दुख नहीं था, जितना बिजली के गायब हो जाने का। इधर महावत ने यह भी समझा दिया था कि यदि बिजली मिल गई तो मोती की कमी की पूर्ति हो जायगी। प्यादे-अहलकारे सुराग लगा ही रहे थे। अब फिर से, पहले ही की तरह, लाव-लश्कर ने घेरा डाला और यथासमय बिजली ठाठ के साथ राजधानी में दाखिल हुई। और इसके थोड़े ही दिनों के बाद छोटे मोती का जन्म हुआ।

बिजली के हृदय में घोर प्रतिहिंसा की आग धधक रही थी। छोटा मोती उसे अपनी ओर खींचता और अपमान का प्रतिकार जंगल की ओर। जब-तक माता की ममता का प्रभाव रहता, वह सीधी तरह रहती, महावत का कहना मानती, राजा को शिकार खिलाती। परन्तु जैसे ही उसे अपमान की याद आती, वह पागल हो उठती।

उसके पागल होते ही घर-घर के दरवाजे बन्द हो जाते; स्कूल, दफ्तर, अदालत, यहाँ तक कि डाक का बटना भी बन्द हो जाता। पुरुष आतंकित से रहते, स्त्रियां उसकी भयानक चीत्कार से थरथरा जातीं और बच्चे नींद से चौंक-चौंक उठते। जब बिजली पागल होती, एक-दो आदमियों की जान अवश्य लेती। जिन खेतों पर पिल पड़ती, उन्हें चौपट कर देती, घरों के छप्पर खींच लेती और दीवारें हटा देती। उसके पागलपन की अवस्था में घर से बाहर निकलने वाले प्रत्येक नागरिक की जान घर लौटने पर ही सलामत समझी जाती थी।

यह मनगढ़न्त बात नहीं है, न अतिशयोक्ति ही। एक-बार पागल बिजली से मेरी मुठभेड़ हुई थी। उस समय मैं प्राथमिक शाला में पढ़ता था। शाला की छुट्टी होने के पहले एक आवश्यक कष्ट के निवारण के

लिये घर जा रहा था, क्योंकि, उन दिनों शाला में उसका कोई प्रवन्ध नहीं था। रास्ते में मेरा एक साथी मिला। उसने घबराई हुई आवाज़ में कहा—"चलो, चलो, भागकर स्कूल में छिप जाओ; बिजली पगला गई है।" आपस में छकाने का हम बालकों का यह साधारण तरीका था।

उसकी बात पर कुछ ध्यान न दे, मैं आगे बढ़ा। कूछ दूर जाने पर मैंने आगे सड़क की मोड़ पर देखा कि सूंड़ तथा पूंछ उठाए, चीत्कार करती रुद्र, भयंकर बिजली चली आ रही है। वहाँ कूछ दूकानें थी। बिजली की आवाज़ सुनते ही फट-फट दरवाज़े बन्द हो गए। किसी ने यह भी न सोचा कि एक बालक को अन्दर खींच लें। बिजली में और मुझमें सौ गज से भी अधिक का फासला नहीं था। मुझे ऐसा लग रहा था जैसे किसी ने मेरे पैर रेल की पटरी से कस दिये हों और सामने से धधकती हुई इंजिन छोड़ दी हो।

भाग्यवश बाईं ओर एक बिल्कुल सकरी गली दिखी, जिसमें बिजली नहीं घुस सकती थी। छाती धड़क रही थी, कलेजा उछल रहा था, फिर भी मैं आंखें बन्द कर उस गली में भागा। कष्ट का निवारण धोती में ही हो गया। गली के दूसरे छोर पर मेरे एक मित्र का घर था। मैं उस में घुसा और आंगन तक पहुँचते-पहुँचते बेहोश होकर गिर पड़ा। घंटों बाद जब होश आया तो अपने घर में था। मेरे मित्र के पिता स्वयं ख़तरा उठाकर मुझे घर पहुँचा गए थे।

उस रोज़ से बिजली को मैं अपनी स्मृति से पृथक नहीं कर सका हूँ। उसके जीवन की एक-एक घटना मैंने बड़े परिश्रम से एकत्र की है; कुछ महावतों से अथवा गुरुजनों से पूछ कर, कुछ देख़ कर और कुछ अपनी थोदी अक्ल पर ज़ोर लगा कर। आज सम्पूर्ण जीवनी आप के सामने है।

जैसे प्लेग के प्रकोप, पृथ्वी के प्रकम्पन, ज्वालामुखी के विस्फोट आदि से यहाँ-वहाँ आतंक फैल जाता है, वैसे ही बिजली के पागलपन

से राज्य में साल में दो-एक बार तहलका मच जाया करता था। लोग कहेंगे कि ऐसी सत्यानाशिनी को तो तोप से उड़ा देना चाहिए था। हाल ही में नई दिल्ली के मुग़ल-बाग़ में एक पागल हाथी बन्दूक से उड़ाया गया था। परन्तु जिस समय की चर्चा मैं कर रहा हूँ, उस समय ऐसा व्यवहार निंद्य समझा जाता था।

दूसरे जो जौहरी नहीं है, वह जवाहर क्या पहचाने; और जो राजा नहीं है वह हाथी की क़द्र क्या जाने। बिजली में जो खूबियां थीं उनकी साधारण जनता को तमीज़ नहीं हो सकती। सबाट कटोरे में पानी भरे हुए बिजली की पीठ पर दस-बीस मील चला जाय, पानी हिलेगा तक नहीं। नदी दोनों पाट लबालब चली जा रही हो, बिजली उसे तीर की तरह पार कर जायगी। वह बिजली ही की हिम्मत थी कि ढाई मन के गंगा-जमुनी हौदे पर राजा और उनके चवँरबर्दारों को लिए दशहरे में इस तरह निकलती थी, जैसे ऐरावत की पोती। और शिकार? बिजली पर बैठ कर माँद से शेर मार कर लाना कोई बात नहीं थी। अड़ोस-पड़ोस के राजा तक बिजली पर न्यौछावर थे; तब राजधानी में किसके कन्धे पर दो सिर थे कि बिजली को गुरेर-तरेर भी सके? बिजली राज्य की शोभा थी। उसके लिये साल में दो-चार खून माफ़ थे।

पागल होते पर वह दो-चार रोज़ तो राजधानी के आसपास चक्कर लगाती और फिर घनघोर जंगल में घुस जाती। कुछ दिनों बाद, छोटे मोती को आगे कर चंडाल चौकड़ी खोज में निकलती और काफी परेशानी के बाद बिजली रानी नगर में प्रवेश करती। उसका शरीर घावों से छिन्न-भिन्न होता पर भालों की चोटों से सिरों की टक्करों के निशान ही अधिक होते। जंगलों की अनदेखी लड़ाइयों में सेनापति और उसके साथियों पर क्या बीतती थी, यह भगवान ही जानें। हाँ

यदि छोटे मोती का प्यार बिजली को आकर्षित न करता तो सम्भव है उसे वीरगति प्राप्त होती।

(८)

गुण-औगुण किस में नहीं होते और दोस्त-दुश्मन किसके नहीं होते? बिजली के भी थे और सबसे विकट शत्रु थी एक दुर्बल अभागी नारी, जिसका नाम था—बिसाहिन। बिसाहिन का घर हथसाल के समीप ही था। पागल होने पर बिजली की प्रथम बार वक्रदृष्टि बिसाहिन के घर पर ही पड़ती थी। छप्पर उलट देना, दीवाल गिरा देना, दरवाज़ा उखाड़ देना बाएँ हाथ का खेल था। बिसाहिन भी जिद की पक्की थी। घर छोड़ अन्य स्थान पर बसने का नाम भी न लेती थी। बिजली को इस तरह हाथ उठा-उठा कर कोसती थी, जैसे उसे कोई भय ही न हो। लोगों ने यह हवा बाँध रखी थी कि बिसाहिन बिजली से किसी तरह उन्नीस नहीं क्यों कि वह है टोनही।

जादू-टोने के विवेचन के लिये तो इस कथा से अधिक चिन्तन-अध्ययन की आवश्यकता होगी। इतना बहुत है कि लोग बिसाहिन को अपने फ़न में माहिर मानते थे। कहते थे कि हरियाली अमावस्या को, आधी रात में, जब पानी झिमिर-झिमिर बरस रहा था, बिसाहिन अकेली श्मशान पहुँची। उसने एक तेली के काले, कुरूप, नौजवान, माता-मुँहे लड़के का शव खोद निकाला, जो पिछले दिन आत्महत्या कर के मरा था। शव का कफ़न अलग फेंका और खुद भी नगड़धम उसकी छाती पर बैठ गई और गुरू के बतलाए मंत्र का जाप करने लगी। थोड़ी देर बाद मुर्दा हँस पड़ा और दाँत से उसके अँग काटने और जीभ से लहू चाटने लगा। बिसाहिन बिना किसी भय या झिझक के मँत्र पाठ करती रही। उसकी इस निष्टा से संतुष्ट होकर मुर्दे ने पूछा-"क्या चाहती है?"

विसाहिन—"मंत्र की सिद्धि।"

मुर्दा—"सिद्धि के लिये कुछ भेंट चढ़ाएगी ?"

वि०—"चढ़ाऊँगी।"

मु०—"क्या ?"

वि०—"जो चाहें।"

मु०—"तेरे पुत्र हैं ?"

वि०—"हैं।"

मु०—"कितने ?"

वि०—"दो।"

मु०—"उम्र ?"

वि०—"आठ और छः साल।"

मु०—"मैं बड़ा पुत्र चाहता हूँ।"

वि०—"तैयार हूँ।"

मु०—"हृदय से ?"

वि०—"हृदय से।"

मु०—"रोयेगी तो नहीं ?"

वि०—"नहीं।"

मु०—"पछतायेगी तो नहीं ?"

वि०—"नहीं।"

मु०—"तो जा। आज से तीसरे दिन मैं भेंट ले लूँगा और मंत्र की सिद्धि दे दूँगा। इस बीच चाहे तो अपना मत बदल दे।"

विसाहिन प्रणाम करके चली गई। लोग कहते हैं कि तीसरे दिन विसाहिन का बड़ा लड़का खून ओक-ओक कर मर गया और उसने कोई दौड़-धूप नहीं की। चौथे दिन मोहल्ले वालों ने देखा कि विसाहिन के घर के सामने का हराभरा वृक्ष रात भर से ही उखड़ गया है और

सब पत्ते झड़ गए हैं। इसे विसाहिन के मारण-मंत्र की प्रथम परीक्षा की संज्ञा दी गई।

यह चाहे जो हो, विसाहिन और बिजली की शत्रुता बढ़ती ही जाती थी। बिजली जितना सताती, विसाहिन उससे दुगना कोसती। जादू-टोना पर विश्वास करने वाले कहते कि यदि विसाहिन का क्रोध एक सीमा के पार हो गया तो बिजली की खैरियत नहीं। अविश्वास करने वाले कहते कि अचार डाल लो, जादू-टोने का। यदि विसाहिन ने हठ-धर्मी की और वह स्थान छोड़ा नहीं तो एक दिन बुरा नतीजा निकलेगा।

इस युद्ध की पराकाष्ठा तब उपस्थित हुई जब बिजली ने, पागलपन की हालत में, विसाहिन के दूसरे पुत्र को कपड़े की तरह चीर कर दो कर दिया और जंगल में अंतर्ध्यान हो गई। जादू-टोना पर अविश्वास करने वालों ने कहा—"क्यों, हमने क्या कहा था ?" विश्वास करने वालों ने उत्तर दिया—"धीरज धरो। अब बिजली नहीं लौटने की, उसकी मृत्यु का समाचार आएगा।"

यथासमय राजा के सेवक बिजली को लेकर राजधानी को लौटे। बिजली की हालत वैसी ही थी, जैसी कि हर बार वापसी पर रहा करती थी। तथापि, लौटने के तीसरे दिन सवेरे महावत ने बिजली को हथसाल में प्राणहीन अवस्था में पाया।

राजकीय शोक मनाया गया, समाधि का निर्माण आरंभ किया गया और बहुत दिनों तक नगर-निवासियों में बिजली की मृत्यु के संबंध में तर्क-वितर्क होता रहा।

जादू-टोने पर विश्वास करने वाले दल ने कहा—"क्यों, अब तो मानोगे ?"

अविश्वासी दल ने कहा—"जाओ भी, अंध-विश्वास की चादर

ओढ़ कर सो जाओ। ढोर-डाक्टर ने अपने निजी मित्रों से कहा है कि बिजली को ज़हर दिया गया, पर उसने स्वाभाविक मृत्यु की रिपोर्ट इसलिये दी कि वह बहुत मार चुकी थी; उसका मरना ही बहुजन-हिताय था। किसने ज़हर दिया,—यह भी क्या कोई कहने की बात है ?

मृत्यु तो निर्विवाद थी, उसका कारण चाहे जो रहा हो। यह दुर्बल कथाकार, जो बिजली के तेजस्वी सम्पर्क से बाल-बाल बच गया, ईश्वर से प्रार्थना करता है कि उस स्फूर्ति-प्रदायनि का यश अमर हो और उसकी आत्मा अखंड शान्ति प्राप्त करे।

कहानी-चक्र

हम लोगों की मित्रता कुछ विचित्र है। लोग कहते हैं कि डाकखाने की कृपा से मित्रता नहीं निबाही जा सकती। हम लोग तीन साल अलग रहे, पर एक दिन भी स्नेह शिथिल हुआ हो, यह मानने के लिये दोनों में से एक भी तैयार नहीं। चिट्ठी-पत्री तो वही छठे-छमासे चलती थी, परन्तु हृदय के तार रोज़ आपसी कुशल-प्रश्न पूछ लिया करते थे। पर अब तो एक ही स्थान में फिर आ गए हैं। लोग समझते होंगे कि प्रति दिन घंटे-दो-घंटे बैठक जमती होगी। अजी कहाँ की बातें! कभी-कभी तो दस-दस पंद्रह-पन्द्रह दिन निकल जाते हैं, दुआ और सलाम तक की नौबत नहीं आती।

बात यह है कि मैं हूँ क्लर्क और वह है ओवरसियर। जब मैं तड़के नौ बजे सोकर उठता हूँ, तब वह किसी नई सड़क पर गिट्टी पिटवाता होता है। जब-तक मैं बलि के बकरे की तरह दफ्तर की ओर बढ़ता हूँ, तब-तक उसके घर लौटने का समय हो जाता है। और, जब मैं दिन भर की झिड़कियों का सिंहावलोकन करते तथा अपने को इस संसार का जघन्यतम प्राणी समझते हुए घर लौटता हूँ, तब वह खुद किसी उठती हुई इमारत की नींव पर खड़ा, मेट-मज़दूरों को डांटता फटकारता रहता है।

इसमें सन्देह नहीं कि रात तो अपनी ही है, परन्तु मुझ कुर्सी के कीड़े को रात में जब गली-गली ठोकरें खाने की सूझती है, तब वह दिन

भर का थका बारिक मास्टर दो-चार सपने देख चुकता है। इच्छा तो बहुत होती है कि रात में उसके घर इस तरह जम कर बैठूँ, जैसे किराया मुझे ही देना हो, परन्तु मूक जीवधारियों के प्रति क्रूर व्यवहार करने के दोष में पकड़ न जाऊँ, डर से उधर नहीं जाता। अतएव, मुलाक़ात तो हम लोगों की वही इतवार-बुधवार होती है, पर जिस दिन दो दीवाने पास ही बँध गए, उस दिन गुज़रती भी ख़ूब है।

गर्मी ऋतु थी, छुट्टी का दिन था। दफ्तर के बड़े बाबू के दर्शनों की कोई आशंका नहीं थी, इसलिये तबीयत उमंग में थी। मैं छत पर बिस्तर डाले, अड़ोस-पड़ोस की सुविधा-असुविधा का ख़याल न कर, बेतहाशा गलेबाज़ी कर रहा था। इसी समय सीढ़ियों पर पद-निक्षेप हुआ। आशिक़ को किसी के 'छम-से' आने में जो ख़ुशी होती, वही मुझे इस परिचित पद-निक्षेप से हुई। मैं उठ कर बैठना ही चाहता था कि वह झूमता-झामता आ पहुँचा और बोला—"लेटे रहो, लेटे रहो।"

मैंने कहा—"लेटा क्यों न रहूँ? जनाज़ा उठाने को ही तो भूल पड़े हो।"

वह—"अजी, यह ग़रीब तो दो-चार चक्कर रोज लगा जाता है, पर बड़े आदमियों से यों मुलाकात हो जाय, तो बड़े आदमी ही क्या ठहरे!"

मैंने कहा—"भई, बड़े आदमी तो आबेरवां का कुर्ता और पेटेण्ट शू पहनते हैं। जिसके न सिर पे जूता, न पैर में टोपी वह क्या ख़ाक बड़ा आदमी होगा!"

दोनों हँसने लगे। मैं ने सिगरेट-माचिस बढ़ा दी। वह छत की सफ़ील से टिक कर बैठ गया। सिगरेट जलाते और आकाश में धुएँ के गोले उड़ाते, उसकी दृष्टि आसपास की छतों पर जा पड़ी और एक जगह जाकर ठहर गई। मैं समझ गया और मुस्कराने लगा। उसने भी हँसते हुए कहा—"यार, तुम हो बड़े मजे में।"

मैं—"क्यों ?"

वह—"क्यों क्या ? यहाँ से मेरे मकान की छत साफ़-साफ़ नज़र आती है।"

मैं—"तो ?"

वह—"तो...तो रोज़ बेगम सहेबा से आठ आँखें होती होंगी।"

मैंने फटकारते हुए कहा—"क्या बेहूदा है रे !"

वह शरारत से मुस्कराता हुआ बोला—"बेहूदा-एहूदा नहीं, भाई साहब ! अब बिना डेरा बदले इस ग़रीब की इज्जत घपले में हैं।"

यद्यपि वह बना रहा था, पर मुझे ऐसा जान पड़ा जैसे परीक्षा में नकल करते हुए पकड़ा गया होऊँ। खुर्शेद मेरा मित्र है और मैं कह चुका हूँ कि मित्रता कुछ विचित्र होते हुए भी, मेरे हृदय में उसके प्रति सच्चा स्नेह है। दिल्लगी का अधिकार ठेठ देवर की सीमा तक भले ही था, परन्तु मेरी ओर से पाप-वासना तो दूर, उसकी पत्नी के प्रति कोई साधारण छेड़छाड़ भी असंभव थी। मनुष्य कितना ही संयमी क्यों न हो, अपने हमजोली, अपने लंगोटिये की पत्नी को देखते ही आंखों में पट्टी तो नहीं बांध सकता। मन में कोई पाप नहीं रहता, परन्तु एक अज्ञात शक्ति चिल्ला चिल्लाकर कहती है कि अमुक मित्र की पर्दानशीन श्रीमती के दर्शन का यह स्वर्ण अवसर, बड़े दिन की तरह वर्ष में एक बार ही आता है। इसे आंख मूंद कर टाल देना कोरा ढोंग, घोर मूर्खता, निरा पाखण्ड है।

इस आंतरिक प्रेरणा के वशीभूत हो, पहले ही दिन जब वे श्रीमती जी छत पर आई थीं, तभी खूब आंखें फाड़-फाड़ कर देख लिया था। पाप-पुण्य के तर्क-वितर्क के लिये उस समय अवसर ही न था। खुर्शेद के सौभाग्य की प्रशंसा के अतिरिक्त और किसी भाव ने हृदय में हलचल

मचाई हो, ऐसा तो याद नहीं पड़ता । इसके बाद भी छत पर उनके नित्य ही दौरे होते रहते थे—विशेष कर गर्मी की संध्याओं में तो सारी गृहस्थी ही छत पर उठ आती थी। परन्तु आंख गड़ाने की फिर कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई । उलटा यह डर लगा रहता था कि किसी दिन, अचानक दृष्टिपात हो जाने पर, वे मेरी सज्जनता पर संदेह न करने लगें। कभी-कभी जब मैं अपनी छत के फर्श पर लेटता था, तब सफ़ील की जाली से छन-छन कर उनकी आभा मेरे नेत्रों पर पड़ा करती थी । जाली का परदा बीच में रहने के कारण, ऐसे समय मेरी स्थिति सुरक्षित रहती थी । ऐसे अवसरों पर कभी मैं उन्हें देख लिया करता था, और कभी आंखें बन्द कर कहा करता था—'कुलवधू ! जब तू गृहकार्य में निमग्न इधर-उधर चलती फिरती है, जब तेरे अंग-प्रत्यंग से उपलखण्डों के नीचे बहते हुए गिरि-निर्भर के संगीत का मधुर राग भँकृत होने लगता है ।' इस भाव में पाप-वासना तनिक भी नहीं हो सकती क्योंकि यह ठेठ रवि ठाकुर का भाव है । परन्तु खुर्शेद की इस बेहूदा छेड़-छाड़ से ऐसा जान पड़ा, जैसे वह मेरे कान ऐंठ कर कहता हो—क्यों बेटा, और आँखें लड़ाओगे ?

मैं इसी उधेड़-बुन में था कि वह धम्म से मेरे पास आ लेटा और बोला—"देख, देख जल्दी देख !"

मैं ने पूछा—"क्या ?"

वह—"मेम साहब छत पर आई हैं। इधर ही मुँह है। देख !"

मैं चिढ़ा हुआ तो था ही। मैं ने कहा—"छत पर क्यों, कोठे पर आई हैं कहो न !"

उसने मेरी बात को अनसुनी करके, उत्तेजित भाव से कहा—"ठहर, ठहर; मैं सफ़ील पर से हाथ उठा कर, बुलाने का इशारा देता हूँ। खूब मजा रहेगा !"

मैं 'क्या उल्लू है वे' कहता और रोकता ही रह गया और उसने इशारा कर ही दिया।

(२)

थोड़ी देर तक तो मैं केवल टकसाली गालियाँ ही बकता रहा ! उस के बाद मुझे भी दूर की सूझी। मैं ने कुछ गम्भीर हो कर कहा— "यह तुमने अच्छा नहीं किया, खुर्शेद !"

वह—"तो ऐसी बुराई ही क्या हो गई जो सरकार के दुश्मनों का मुँह फूल गया ?"

मैं—"मुँह फूलने की बात ही है। ऐसा भी मज़ाक किस काम का, जिसका नतीजा खराब हो।"

वह—"अच्छा, तो जान पड़ता है कि या तो वह तुम्हें फाँसी पर चढ़ा देगी या फिर तुम्हारे साथ भाग ही निकलेगी।"

मैं—"फाँसी पर चढ़ाने या भाग निकलने का सवाल नहीं है। ऐसी हरक़तों से बहुतेरी खराबियां पैदा हो सकती हैं।"

वह—"अच्छा हुज़ूर, एकाध मैं भी सुनूँ।"

मैं—"तो सुनो—

"विलायत की कहानी है। कदाचित सत्य घटनाओं के आधार पर कही गई है। एक बार एक साहब अपनी मेम साहेबा के साथ यात्रा कर रहे थे। रेल का सफ़र था। डिब्बे में केवल वे ही दोनों थे। वहाँ की यात्रा का ढंग हमारे यहाँ के समान नहीं है कि खाली मिला तो पूरे डिब्बे में फैल गए। वहाँ प्रत्येक यात्री के लिये एक 'सीट' रहती है। एक आदमी केवल एक ही सीट का उपयोग कर सकता है।

"ये लोग दो कुर्सियों पर कब्ज़ा किए बैठे थे। आगे के किसी स्टेशन पर एक और साहब डिब्बे में आगए और सामने की सीट पर जम गए। गाड़ी आगे बढ़ी। थोड़ी दूर चलने पर इंजिन ने ज़ोर से सीटी दी। उस

समय मेम साहबा के पति स्मोकिंग कम्पार्टमेण्ट में जाने के लिये खड़े हो गए थे। वहाँ की गाड़ियों में हर एक डिब्बे में तम्बाकू पीने की इजाज़त नहीं रहती। तम्बाकू पीने के लिये अलग एक डिब्बा रहता है और चलती गाड़ी में एक डिब्बे से दूसरे में जाया जा सकता है। इंजिन की सीटी से ये साहब जान गए कि गाड़ी अब एक बोगदे (सुरंग) में प्रवेश करना चाहती है। थोड़ी देर के लिये अँधेरा हो जायगा, यह भी वे जानते थे। परन्तु वे रुके नहीं। अँधेरा होते-होते वे डिब्बे के द्वार तक पहुँच गए।

"पाँच-दस मिनट बाद जब वे सिगरेट फूँक कर अपने डिब्बे में आए, तब क्या देखते हैं कि मेम साहब एक दम तनी हुई हैं, क्रोध से चेहरा तमतमा रहा है, आँखों में आँसू भरे हुए हैं और ओंठ फड़क रहे हैं। पति को देखते ही उन्होंने तिलमिला कर कहा—'जिमी, यह आदमी जो सामने बैठा हुआ है, आदमी नहीं ढोर है। तुम्हारे स्मोकिंग कम्पार्टमेण्ट की ओर जाते ही, जैसे ही अँधेरा हुआ, इस पशु ने मेरा चुम्बन ले लिया।'

"जो पुरुष सामने बैठा हुआ था, उसे काटो तो खून नहीं। चेहरा एकदम फक हो गया। अपनी सफ़ाई देने के लिये उसने मुँह खोला, परन्तु घबराहट के कारण 'महाशय मैं…महाशय मैं' के अतिरिक्त कोई बात ही न निकली। यह देख जिमी ठहाका मार कर हँसने लगा। उसने अपनी पत्नी से कहा—'मिली डियर, जैसे ही मैं इस डिब्बे से बाहर निकला और अँधेरा बढ़ा, वैसे ही न मालूम क्यों मेरे दिल में आया कि तुम्हारा चुम्बन लेता चलूँ। इसलिये मैं ने ही दर्वाज़े से लौट कर तुम्हारा चुम्बन लिया था। इन महाशय का कोई अपराध नहीं।' फिर उसने नवागत की ओर देखकर कहा—'महाशय, माफ़ कीजिएगा। मेरी हिमाक़त के सबब आपको बुरा-भला सुनना पड़ा। मैं अत्यंत लज्जित हूँ।' मेम साहब ने भी तुरन्त माफ़ी माँग ली और तीनों हँसने लगे।"

खुर्शेद ने कहा—"यह तो अच्छा तमाशा रहा।"

मैं ने कहा—"तमाशा आगे होगा, जरा सुनो—

"नवागत, जिसका नाम बिल था, इस धटना पर विचार करने लगा। उसने सोचा कि खुद ही छेड़ कर, अपनी पत्नी के सतीत्व की परीक्षा लेने की यह अच्छी हिकमत है।"

इतना कहकर मैंने खुर्शेद की ओर एक भेद पूर्ण दृष्टि डाली। वह हँसने लगा, परन्तु अबकी बार उसकी हँसी में एक हल्की-सी झेंप मिली हुई थी। उसने पूछा—"तब ?"

मैं ने फिर प्रारम्भ किया—

"प्रत्येक नव-विवाहित पति में अपनी नवीना के प्रति कुछ संदेह की मात्रा हुआ करती है। संभव है कि अत्यधिक प्रेम ही इसका कारण हो। संभव है प्रेम में जो ईर्ष्या का तत्व छिपा रहता है, उसी से इस संदेह की सृष्टि होती हो। पर यह रहता है अवश्य। बिल की भी यही स्थिति थी। वह अपनी पत्नी को खराब समझता हो, ऐसी बात नहीं थी, परन्तु एक बार उसकी परीक्षा लेने में वह कोई दोष नहीं समझता था। उसने सोचा कि यह अच्छी, सीधी हिकमत हाथ लग गई। मौका मिलने पर वह भी अपनी पत्नी को ऐसी ही किसी कसौटी पर कस कर देखेगा।

"उसने घर जाकर इस घटना का हाल अपनी पत्नी से गुप्त ही रक्खा। कुछ दिनों के बाद बिल को सपत्नीक रेल-यात्रा करने की आवश्यकता हुई। संयोगवश उन्हें भी खाली डिब्बा मिला और आगे चलकर एक यात्री उसी डिब्बे में चढ़ आया और सामने बैठ गया। गाड़ी फिर एक बोगदे के मुहाने पर पहुँची और इंजिन ने सीटी दी। बिल ने ठीक वही किया जो जिमी ने किया था और स्मोकिंग कम्पार्ट-मेण्ट में जा बैठा। उसका हृदय उछल रहा था। उसकी पत्नी इस समय

अग्निमूर्ति बनी बैठी होगी, यह सोचकर उसे गुदगुदी पैदा हो रही थी। उससे अधिक देर नहीं बैठा गया। वह अपने डिब्बे को लौट आया। उसकी पत्नी सहयात्री से घुलघुल कर बातें कर रही थी। बिल को देख कर उसने पूछा—'सिगरेट पी आए ? और फिर उस यात्री से बातें करने लगी।''

इसी समय किसी ने मुझे बाहर से पुकारा। मैंने उठ कर देखा कि खुर्शेद के साले, अब्बू मियाँ, सड़क पर खड़े हैं। उन्होंने पूछा—"दूल्हा भाई (अर्थात खुर्शेद) हैं क्या ?"

मैंने कहा—"हैं तो।"

उन्होंने कहा जरा बतला दीजिए कि उनके सुपरवाइजर साहेब घर पर आये हैं और जल्दी याद कर रहे हैं। इतना कह अब्बू मियाँ आगे बढ़ गए।

मेरे लिए 'बड़े बाबू' जो तूफ़ान थे, खुर्शेद के लिये ठीक वही 'सुपरवाइजर सा०' थे। ईश्वर जाने ये बड़े बाबू और सुपरवाइजर किस फैक्ट्री में तैयार किये जाते हैं! न तो उनमें सभ्यता होती है, न शिष्टता, न सरसता, न ताश-प्रेम, न खेल-प्रेम, न संगीत प्रेम। वे तो केवल फाइलों से नत्थी कर दिये जाने योग्य हैं। लोग कंजूसों को अल्ला मियाँ का खजांची कहा करते हैं। तब इन लोगों को तो अल्ला मियाँ का चाबुक कहना ही उचित होगा। इस देवदुर्लभ जीवन में मातहतों को पिसते हुए देखते रहने के अतिरिक्त इन बेचारों को कोई और इच्छा या अभिलाषा नहीं। सुपरवाइज़र के नाम से चौंक कर,—"अच्छा यार, फिर सुनेंगे" कहता हुआ खुर्शेद नौ-दो-ग्यारह हुआ। मैंने छत पर से ही फब्ती कसी—"मेम साहब को पाक़दामनी का सर्टीफ़िकेट देना, तो मेरे भी दस्तख़त करा लेना,—भला।" वह हँसता हुआ चला गया।

(३)

अब्बू मियाँ ने अभी-अभी मैट्रिकुलेशन पास किया था। अब उनके

सामने यह कठिन समस्या उपस्थित थी कि स्थानीय कालेज में नाम लिखा लें या अलीगढ़-यूनीवर्सिटी में दाखिल हों। खेल-कूद के शौकीन थे-पढ़ने में भी खराब नहीं थे। यदि पिता जी जीते होते तो अलीगढ़ जाने में कोई संदेह नहीं था। पिता की मृत्यु के कारण उनकी शिक्षा-दीक्षा का भार खुर्शेद पर ही आ पड़ा था। होनहार लड़के को आगे पढ़ाने में खुर्शेद को कोई आपत्ति न थी, परन्तु उसका कहना था कि अब्बू मियाँ स्थानीय कालेज में भर्ती हो जायं। खर्च भी कम पड़ेगा और मौके-बे-मौक़े घर-गृहस्थी को भी उनका सहारा मिलता रहेगा।

ऐसे सब लोगों को, जो स्थानीय कालेज के पक्ष में थे, अब्बू मियाँ अपना शत्रु और अलीगढ़ के पक्ष वालों को अपना मित्र समझते थे। मैं कहा करता था कि विद्यार्थी का मानसिक विकास पुस्तकों के पढ़ने से उतना अच्छा नहीं हो सकता, जितना उच्च संस्कृति के वातावरण द्वारा हो सकता है। अतएव मैं अब्बू मियाँ के घनिष्ट मित्रों में से था।

वहुधा गम्भीर मुद्रा धारण कर वे मुझसे कहा करते थे—"दूल्हा भाई ने कभी यूनीवर्सिटी की शकल तो देखी नहीं। ईंट-चूना और गिट्टी-पत्थर में ही हमेशा जुटे रहे। अब कहते हैं कि अच्छा लड़का किसी भी कालेज में पढ़ कर पास हो सकता है। भला बतलाइए, पास होना भी पढ़ाई की कोई कसौटी है? पास अगर नकल करने की हिकमत मालूम हो तो बिना पढ़े भी हुआ जा सकता है। सवाल यह है कि क्या इससे वह वक़फ़ियत, वह शाइस्तगी हासिल हो सकती है, जो एक वाकई तालीमयाफ्ता इन्सान में होना चाहिए?" इस सब लेक्चरबाज़ी का अंतिम ध्येय यह था कि खुर्शेद के घनिष्टतम मित्र की हैसियत से, मैं उस पर दबाव डाल कर, फ़ौरन अब्बू मियाँ को अलीगढ़ का टिकिट कटवा दूँ।

छत वाली मुलाकात के बीस-पचीस दिन बाद, अब्बू मियाँ आए और मुँह लटका कर बैठ गए। मैं समझ गया कि आज खुर्शेद की

शिक्षा-दीक्षा पर कटु आलोचना और असली तालीम पर, जो केवल अलीगढ़ में मुहैया है, एक लम्बी स्पीच होगी। मैं ने पूछा—"कहो भाई तुम्हारा एडमिशन फ़ार्म वग़ैरह गया या नहीं ?"

बहुत नाक-भौं सिकोड़ कर अब्बू मियाँ ने कहा—"कहाँ का एडमिशन फ़ार्म, साहब ! अब तो कहीं क्लर्की तलाश दीजिए, ताकि पेट भरने का सहारा हो। पढ़ाई लिखाई तो खत्म हो चुकी।"

पुस्तक खोलते ही अंतिम परिच्छेद आ जायगा, यह मैं नहीं जानता था। मैं ने कुछ बढ़ावा देते हुए कहा—"आप भी होनहार लड़के हो कर क्या मज़ाक़ करते हैं ? आख़िर ख़ैरियत तो है ?"

अ० मि०—"ख़ैरियत क्या ख़ाक है। आजकल दूल्हा-भाई का मिज़ाज ही नहीं मिलता। बात-बात में चिड़चिड़ा पड़ते हैं। इधर दाखिले का वक्त निकला जा रहा है। मैंने कल बात छेड़ी तब टका-सा जवाब मिल गया कि अलीगढ़ भेज कर पढ़ाने की उनकी हैसियत नहीं है।"

समझौते का प्रयत्न करते हुए मैंने कहा—"तो आप दो साल यहीं क्यों नहीं पढ़ लेते ? उनका कहना भी तो एक हद तक वाजिब है। जिस के पीछे चार खर्च लगे रहते हैं, उसी को दाल-आटे का भाव मालूम रहता है। आप इन्टर यहीं से पास कर लीजिए, डिग्री के लिए अलीगढ़ चले जाइएगा। तब तक खुदा चाहेगा तो खुर्शेद सुपरवाइज़र होंगे।"

ऊँट को इस करवट बैठते देख, अब्बू मियाँ तो एकदम झल्ला उठे। वे कड़क कर बोले—"अजी साहब हैसियत तो सब-कुछ है, हौसला चाहिए, हौसला ! आजकल क्या हो रहा है—कुछ आपको खबर भी है ? अब क्लब का शौक शुरू हुआ है। रोज हार-जीत होती है। आधी-आधी रात को मकान आते हैं। सुना है, कुछ पीने-पाने और नाच-जलसे का भी रंग जमा करता है। इन तमाम खुराफ़ातों के लिये हैसियत है, और पढ़ाने के लिए हैसियत नहीं है। बे-मा-बाप हैं, वतन से दूर हैं,

ग़रीबों के लिये क्या ख़ाक हौसला हो ! वालिद साहब आज दिन होते, तो बात ही और होती ।"

लड़के की आँखों में आँसू भर आए ! खुर्शेद के ये नये गुन सुन कर मैं भी जीभ काट कर रह गया। कुछ ठहर कर मैंने पूछा—"आपा (अर्थात् अब्बू मियाँ की बहिन) कुछ समझाती नहीं ?"

अ० मि०—"जो समझना चाहे उसे समझाया जाय। जो बात करते ही काटने दौड़े, उसे कहाँ का सिखाना और कहाँ का समझाना ?"

मैंने दिलासा देते हुए कहा—"अच्छा मियाँ, आज शाम को आऊँगा। कह रखना। देखूँ तो ज़रा कि हज़रत पर किस जिन का फेरा है।"

(४)

दफ्तर से छुट्टी पाते ही मैं खुर्शेद के यहाँ पहुँचा। किसी बात पर मेम साहब से दो-दो चोचें हो रही थीं। पहले तो इरादा हुआ कि चुप-चाप खड़ा सुना करूँ, पर अंतरात्मा ने आपत्ति की, इसलिये आवाज़ लगा दी। लगभग पाँच मिनट के बाद खुर्शेद बाहर निकला। मैं समझ गया कि चढ़े हुए पारे को नार्मल में आने के लिये, इससे कम समय नहीं लग सकता। उसे देखते ही मैं यकायक चौंक पड़ा इन थोड़े दिनों में ही उसका स्वास्थ्य काफ़ी गिर चुका था। मैंने पूछा—"बीमार थे क्या ? ख़बर तो भेज दी होती ।"

वह—"बीमार पड़ूँ तब न खबर भेजूँ ।"

मैं—"तब इधर बीस-पच्चीस दिन ग़ायब क्यों रहे ?"

उसने सिर खुजलाते हुए कहा—"क्या करूँ भाई, कुछ ऐसी झंझटों में फँसा रहता हूँ......"

मैंने अनुमान लगाया कि अब्बू मियाँ की पढ़ाई का प्रश्न जितना मैं समझता था, उससे कहीं अधिक क्लिष्ट है। आया था मियाँ की सिफ़ा-

रिश करने परन्तु तरबूजे को देखते ही रंग बदल गया। मैं ने कहाँ—"हाँ जी, अलीगढ़ भेजना फ़िज़ूल है, पर कुछ करना तो पड़ेगा ही।"

उसने कहा—"चलो, तुम्हारे ही यहाँ चल कर बातचीत होगी। यहाँ तो चारों तरफ़ जासूस लगे हुए हैं।"

हम लोग घर आए। छत पर बैठक जमी। कुछ देर अब्बू मियाँ की बातचीत होती रही। फिर उसने कहा—"हटाओ भी, यार, यह चरखा। कुछ दिल की लगी होने दो। ये बातें सुनते-सुनते नाक में दम आ गया।"

मैं ने गला साफ़ करते हुए कहा—"अच्छा कहो, क्या सुनोगे ?"

कुछ देर यही शुग़ल रहा। एकाएक ख़ुर्शेद ने कहा—"भाई उस दिन तुम एक कहानी सुना रहे थे ?"

मुझे कुछ स्मरण नहीं था। मैं ने पूछा—"कौन कहानी ?"

उसने कहा—"अरे वही, एक साहब ने रेलगाड़ी में अपनी मेम का......"

मुझे कहानी तथा उस दिन की घटना याद आगई। मैं ने हँसते हुए पूछा—"क्यों दोस्त, जान पड़ता है आगए निन्नानवे के चक्कर में !"

वह—"अरे नहीं; अधूरी रह गई थी इसीलिये कहा।" कुछ ठहर कर उसने पूछा—"अच्छा, बिल ने जब अपनी पत्नी को सहयात्री से घुलघुल कर बातें करते देखा, तब उसने क्या किया ?"

"वह तो कहानी थी जी" मैं ने क़हा, "उसमें रक्खा क्या है ? बिल के हृदय में संदेह का भूत बैठ गया। उसका गृहस्थ-जीवन दुःखमय हो गया। वह जुआ खेलने लगा, शराब पीने लगा, और न जाने क्या-क्या ख़ुराफ़ात करने लगा। आख़िर एक दिन उसकी पत्नी ने पूछा—'तुम इस तरह क्यों पागल हुए जाते हो ? बिल ! मेरी ओर से तुम्हारा चित्त क्यों फटा जा रहा है ? न दिन चैन, न रात चैन ! उस दिन से, जब

तुमने रेलगाड़ी में मेरा चुम्बन लिया था, एक पल भी ऐसा नहीं आया कि फिर मुझे उसी तरह प्यार करते।'

"विल रेलगाड़ी का ज़िक्र सुन कर चौंक उठा। उसने कहा—'तुमने कैसे जाना कि रेलगाड़ी में मैं ने ही तुम्हारा चुम्बन लिया था? उस डिब्बे में एक आदमी और भी तो बैठा था?'

"उसकी पत्नी ने कहा—'बस, इतनी-सी बात के पीछे मेरी और अपनी ज़िन्दगी हराम कर रहे हो?'

"विल— 'एक ही बात तुम्हारे लिये इतनी-सी और मेरे लिये बहुत बड़ी हो सकती है।'

"पत्नी—'अच्छा, तो उस आदमी का स्मरण करो।'

"विल—'ख़ूब स्मरण है। उसके बाद भी मैं कई बार उससे मिल चुका हूँ।'

"पत्नी—'तो तुम्हें मालूम होगा कि उसकी मूछें कान तक जाती थीं और तुम्हारा चेहरा है एकदम सफ़ाचट।'

"विल इस तर्क का लोहा मान गया। उन दोनों का जीवन फिर सुख से व्यतीत होने लगा।"

इसी समय ख़ुरशेद की श्रीमती जी छत पर दिखाई दीं। मैं ने उसे चिढ़ाते हुए कहा—"कहो दोस्त! उस दिन तो तुमने मुझे ख़ूब बनाया था। अब आज मैं इशारा कर दूँ?"

उसने दूसरी ओर देखते हुए कहा—"कर दे।" मैं ने उसका मुँह अपनी तरफ़ फेर, हाथ उठा, ख़ूब अच्छी तरह बुलाने का इशारा कर दिया और उससे कहा—"अब आज घर जाकर देखो बाबू, कि श्रीमती जी कितने पानी में हैं।"

वह झेंपा-झेंपा-सा हँसने लगा। बहुत रात बीतने तक बातें होती

रहीं। दूसरे दिन अब्बू मियाँ के बारे में अंतिम निश्चय करने का वचन देकर, वह चला गया।

(५)

भोजन कर मैं ने निद्रा देवी की शरण ली। पहली भी नींद पूरी नहीं होने पाई थी कि किसी ने ज़ोर से दर्वाज़ा खटखटाया। मैं ने पूछा—"कौन है ?"

उत्तर मिला—"ख़ुर्शेद, ज़रा खोलो तो।"

दर्वाज़ा खोलते हुए मैं ने कहा—"इस वक्त कैसे ? ख़ैरियत तो है ?"

उसने हँसते हुए कहा—"आप की दुआ से तो सब चौपट ही हो गया था। पर अब अल्लाह का फ़ज़्ल है।"

मैं ने कहा—"कुछ समझा कर कहो।"

वह—"कहता हूँ; पर पहले एक वादा कर दो।"

मैं—"कैसा वादा ?"

वह—"ऐसा कि आगे कभी भूल कर भी मुझे कहानी-वहानी नहीं सुनाओगे।"

मैं—"क्यों ? क्यों ?"

वह—"इसलिये कि ऐसी कहानियों से एक भले आदमी की ज़िन्दगी हराम हो सकती है, एक नेक बीवी का सुख-चैन मिट्टी में मिल सकता है और एक होनहार लड़के की पढ़ाई का ख़ातमा हो सकता है।"

मैं ने खूब नाच कर और मग्न हो कर कहा—"अरे वाह रे मैं, लालबुझक्कड़ ! आख़िर डाल दिया था न, चक्कर में।"

वह—"चक्कर की तो बात ही थी। जिसके दिल में शक का भूत

बैठ गया, क्या फिर उसे एक मिनिट भी चैन मिल सकता है ?"

मैं—"तो आख़िर शक का भूत निकला कैसे ?"

वह—"वह तो न बताऊँगा।"

मैं ने उसकी कलाई मरोड़ते हुए कहा—"तुम तो तुम, तुम्हारे पीर बताएँगे।"

वह—"तुम बुरा मान जाओगे।"

मैं—"ज़रा भी नहीं।"

वह—"अच्छा छोड़ो, बताता हूँ।"

सिगरेट जलाकर उसने कहा—"उस दिन पूरी उम्मीद थी कि रात में वह छत वाला मज़मून छेड़ेगी और बुरा-भला भी कहेगी, पर वह तो ऐसी चुप साध गई, जैसे सोंठ फाँक लिया हो। दो रोज़, तीन रोज़ बीत गए, पर उस बात का कोई ज़िक्र ही नहीं। ज़रूरी नहीं कि तुम से, पर चारो ओर से छतों के इशारे चलते रहते होंगे, ऐसा मैं ने सोचा और उसके गुमसुम होने से मैं पागल हो गया। इस दरम्यान में मैं ने क्या-क्या किया, उसका न कहना ही अच्छा है। आज रात तक मेरे ओंठ कभी हँस भी देते थे, पर दिल लगातार रोता था। तुम्हारे पास से जाते ही उसने झल्ला करक हा—"आज-कल अच्छे-अच्छे गुन सीखते और दूसरों को सिखाते जाते हो। उस रोज़ तुमने अपने दोस्त की छत पर से इशारा किया; आज, शह पा कर, तुम्हारे दोस्त ने किया; कल एरे-ग़ैर-नत्थू-ख़ैरे सभी छतों पर से बुलाया करेंगे। जब अपना ही दाम खोटा है, तब दूसरों को क्या ऐब लगाएँ।'

"मैं तो दंग रह गया। मैं ने पूछा—'तुमने कैसे जाना कि मैं ने किसी दिन उनकी छत पर से इशारा किया था ?'

"वह बोली—'वाह, अभी उस दिन उनकी छत पर चढ़ते नहीं देखा था ?'

"मैं—'छत पर चढ़ते देखा रहा होगा, पर यह कैसे जाना कि इशारा मैं ने ही किया था ?'

"वह—'वाह, कहाँ तुम्हारी बरफ़ की-सी कलाई ; और कहाँ वह आबनूस का कुन्दा ! इतनी बेवकूफ तो नहीं हूँ कि तुम्हारे और ग़ैर के हाथ में फ़र्क न कर सकूँ ।"

ऐसा कौन मनुष्य है जो अपने को बुद्धिमान और सुन्दर न समझता हो ? आबनूस के कुन्दे की तुलना पर जी कुढ़ तो गया, परन्तु यह सोच कर कुछ सन्तोष हुआ कि यह तमाम ताकझाँक बिलकुल इकतर्फ़ा नहीं थी । बेगम साहबा भी, कभी, चाहे कुल एक वार ही क्यों न हो, इस नाचीज़ पर निगाहे-नाज़ का वार कर चुकी हैं ।

●

मूँगे की माला

(१)

रूपसाय गाँव में सबसे अधिक रूपवान था, सबसे अधिक बलिष्ठ, और सबसे अधिक उत्साही। तीर का निशाना ऐसा कि सौ गज से उड़ा दे। शिकार का शौक़ इतना कि तीसों दिन हाँड़ी गरम। नाचने-गाने में आस-पास के दस-पाँच गाँवों में कोई सानी नहीं। इतना होने पर भी, और विजयपुर राज्य की जंगली जातियों में इतना होना ही सब कुछ होता है, रूपसाय कभी-कभी मुँह लटकाये एकान्त-सेवन किया करता था। कारण, रूपसाय दास था, कारण रूपसाय को रुकमिन से प्रेम था।

रूपसाय के पिता ने रुकमिन के पिता के यहाँ जीवन के अन्तिम दिन दासत्व करके ऋण चुकाने में व्यतीत किये थे। पिता के बाद पुत्र ने ऋण का बोझ लिया। इसलिए नहीं कि राज्य या समाज के नियम उसे यह बोझ ढोने के लिए मजबूर करते थे, वरन् इसलिए कि रूपसाय निराश्रित था। पिता के साथ वह हरवाही के कामों में हाथ बँटा चुका था। इस प्रकार से इन कामों में वह सिद्धहस्त भी हो गया था। पिता के बाद वही काम करते रहने में न उसे कोई सङ्कोच हुआ, न कोई असुविधा।

जङ्गल में आग लग जाने, महुआ की फसल ठीक न आने, मवेशियों पर व्याघ्र-कोप हो जाने अथवा अन्य ऐसे ही कारणों से जब रुकमिन के

पिता का कारबार डाँवाडोल हो उठा तब रूपसाय ने रात-दिन एक करके गृहस्थी को बर्बाद होने बचा से लिया। फल यह हुआ कि रुकमिन के पिता के व्यवहार में, जो पहले भी दयापूर्ण था, अब कुछ वत्सलता आ गई। रूपसाय का जीवन सुख से व्यतीत होने लगा।

एकाएक एक दिन रुकमिन को फूल बीनते देखकर रूपसाय का स्वाभाविक सुख भङ्ग हो गया। लड़कपन ने जाते-जाते उसके कान में कहा—'तू दास है'। उसने सोचा, 'यदि मैं दास हूँ तो मुझे रुकमिन को फूल बीनते हुए देखने का क्या हक़ है, मुझे रुकमिन के गीत सुनने और आँख बन्द कर हवा में उसके सुर के पीछे दौड़ने का क्या अधिकार है? दास की ओर क्या रुकमिन आँख उठाकर देख सकती है? दास को क्या रुकमिन स्वामी के रूप में ग्रहण कर सकती है?' यह दास-भाव और उदास-भाव हृदय के कष्ट की प्रेरणा थी अथवा केवल प्रेम का शृङ्गार, यह ठीक नहीं कहा जा सकता। क्योंकि लगभग इन्हीं दिनों में और काफी लम्बा मुँह लटकाकर रुकमिन सोचती थी—'क्या मैं इस योग्य हूँ? क्या गाँव की कोई लड़की इस योग्य है? क्या संसार की कोई कुमारी ऐसी आशा कर सकती है? फिर मेरे यहाँ से इनके पिता के साथ कौन बहुत अच्छा व्यवहार हुआ है या मुझमें कौन ऐसे हीरा-मोती लगे हैं? जो मैं उनसे ऐसी आशा करूँ?'

उत्तर ध्रुव की यात्रा करने से रुकमिन के पिता के सिर पर बरफ़ गिरी हो, ऐसी बात नहीं थी। वह सब देखता था, सब समझता था, और मन ही मन खुश होता था। वह जानता था कि गाँव वाले उसके यहाँ निमंत्रित होने के लिए मुँह फैलाये बैठे हैं।

आखिर एक रोज खूब मदिरा उड़ी, खूब मादर (ढोल) बजा; खूब नाच-गान हुआ। रूपसाय पर दोहरे नशे सवार हो गये। प्रेम के शृङ्गार में काया-पलट हो गई।

(२)

इसके वाद रुकमिन के पिता को मर जाने में कोई विशेष आपत्ति नहीं हुई। वेटी-दामाद को दुख हुआ। गाँव वालों ने समवेदना प्रकट की। गृहस्थी का काम फिर से सुचारु रूप से चलने लगा।

दम्पति-प्रेम में उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई। कालान्तर में वे एक प्राण दो देह की कहावत को चरितार्थ करने लगे। जहाँ एक था, वहाँ एक प्रकार से दूसरे का होना निश्चित ही था। न रूपसाय को रुकमिन के साथ महुआ उवालने में सङ्कोच था, न रुकमिन को रूपसाय के साथ लाख तोड़ने में। न रूपसाय को रुकमिन के साथ पानी भरने में ऐतराज था, न रुकमिन को साथ हल जोतने में। न रूपसाय को रुकमिन के साथ लीपने-पोतने में लिहाज़ था, न रुकमिन को रूपसाय के साथ बाज़ार करने में। रूपसाय रुकमिन को धनुर्विद्या की शिक्षा केवल मनोरञ्जन के लिए देता था या सचमुच अपने साथ आखेट में ले जाने के लिए, इसका निर्णय कठिन है। रात को रूपसाय के मादर के साथ रुकमिन का संगीत गाँव में गूँज उठता था और उस ताल-सुर के मेल के साथ दोनों प्राणियों की आत्मायें एक होकर स्वर्गीय सुख का अनुभव करने लगती थीं।

पर यह स्वप्न बहुत दिनों तक स्थिर नहीं रह सका। थोड़े से सुसमय के वाद काल चक्र की सुई अनावृष्टि और अकाल पर आकर ठहर गई। विपत्ति की पिटारी खुल गई। जंगल की आग गांवों के किनारे तक पहुँच गई। जंगल की फ़सल इस आग में पक कर पृथ्वी के पेट में समा गई। जंगली जानवरों में से मनुष्य के आहार साँभर-चीतल तो ऐसे विलीन हुए जैसे कलियुग में परस्वार्थी और मनुष्य-भक्षक शेर-चीते अपना युग आया जान, समयोचित व्यवहार करने लगे। इस प्रकरण के समाप्त होते-होते, अकाल के भाई वन्द, ज्वर-महामारी रंगभूमि पर उपस्थित हो गये। हाहाकार की ध्वनि करके रैयत ने उनका स्वागत किया।

बड़े-से बड़े माझी का पाया हिल गया। अच्छे-अच्छे कोठवार-ठेठवार सिहर उठे। घर-घर त्राहि-त्राहि मच गई।

पर किसी को आँच नहीं पहुँची तो राजसत्ता को। राजसत्ता के लिए विपद्-बीमारी, दुकाल-सुकाल कुछ नहीं है। राजसत्ता के लिए जो दिन उगा, ईद होकर, जो महीना आया, सावन बनकर।

यदि राज्य में अकाल है, रैयत अपने आप राजधानी में आकर भरे हुए खज़ाने को नहीं भर सकती, तो कर्मचारियों को गाँव-गाँव लगान वसूल करने और अपना पेट भरने के लिए इससे अच्छा कौन मौका आ सकता है? यदि जंगली जानवर बढ़ गये हैं, तो शासक शिकार का शौक क्यों न पूरा करें? रैयत हाँका करने या पैदल शेर के मुँह में जाने के लिए क्यों न पकड़ी जाये? मवेशियाँ शेर को चारा देने के लिए क्यों न छीनी जायें? रोग पीड़ित प्रजा रोज़रोज़ हाँका करते-करते अधमरी क्यों न हो जाय, शासकों का शौक़ भी तो आखिर कोई चीज़ है? राज्य में रोग फैलने पर शासकों को वहाँ रहने की क्या आवश्यकता है? रोग-पीड़ित प्रजा का रक्त क्या शासकों के लिए स्वास्थ्य कर हो सकता है? हाँ, प्रजा रोगी हो या नीरोग शासकों को सैकड़ों मील पैदल निर्विघ्न स्थान में पहुँचाने के लिए; रास्ते में उनकी गाली और मार और अपना अन्न खाने के लिए, कानून की हर एक रू से बेगार में पकड़ी जा सकती है। इसमें सन्देह नहीं कि कौड़ी कैसी भी गिरे राजसत्ता के लिए स्थित ही है, वायु कैसी भी बहे राजसत्ता के लिए अनुकूल ही है।

रूपसाय और उसके गाँव वाले पूर्व-जन्म का पाप पाई-पाई अदा करने में लगे हुए थे। रात में रुकमिन को क़ै और दस्त शुरू हो गये। रूपसाय घबरा उठा। देवता-पितर के लिए तो स्मरण शक्ति यों ही तेज़ हो गई थी, अब की मान-मनौती की बारी आई। सवेरे दवा की खोज में वैद्य के यहाँ जाते हुए उसने जो कुछ देखा, वह काल से भी भयानक था। चुपके से घर लौटकर वह रुकमिन की पाटी पर बैठ गया। भावी

विपत्ति की आशङ्का से मुँह से बात निकालना असम्भव हो गया। रुकमिन गद्‌गद हो उठी। यह सोच कर कि रूपसाय उसके अस्वस्थ हो जाने के कारण विचलित हो उठा है, आश्वासन दे-देकर वह उसके भय-विह्वल चित्त पर आघात करने लगी।

एकाएक काल से भी भयङ्कर विपत्ति ने दर्वाज़े पर पुकारा, "कौन है, बाहर चलो।" मन्त्र-मुग्ध की तरह रूपसाय बाहर निकल आया। रङ्ग-ढङ्ग देखकर कलेजा काँप उठा। यह दिन भर के हाँके की तैयारी नहीं है। खाकी कुर्ती-पगड़ी पहने सिपाही दर्वाज़े पर खड़ा है। कमर में क्रूरता और कठोरता का पट्टा है और हाथ में राजदण्ड। पीछे आठ-दस गाँव वाले मुँह लटकाये खड़े हैं। तीर-कमान की जगह कन्धे पर काँवर-साँगा है और पीठ पर मोटे चावलों की गठरी।

सिपाही साहब का हुक्म हुआ, "जल्दी तैयार हो जाओ। राज्य में बीमारी फैल जाने के सबब दीवान साहब देश जा रहे हैं। उन्हें राज-गाँव पहुँचाना है।" राजगाँव स्टेशन राजधानी से लगभग ६० मील पर है। आना-जाना कम-से-कम सात रोज़ का नुस्खा है। रूपसाय देखकर ही सब ताड़ गया था पर उसी तरह स्पष्ट सत्य की प्रतीक्षा कर रहा था, जैसे फाँसी की सज़ा पाया हुआ अपराधी फाँसी पर लटकाये जाने की।

हाथ जोड़कर रूपसाय ने कहा, "मैं हर तरह और हमेशा बेगार देने को तैयार हूँ। पर इस वक्त घर में बीमारी हो रही है। अब की मुझे माफ़ कर दो। इसके बदले जब कभी हुक्म होगा मैं दुगुनी बेगार देने को तैयार रहूँगा।"

सिपाही पुराना आदमी था। अपनी मर्यादा का उसे जितना ज्ञान था, उतना दीवान साहब को भी शायद ही रहा हो। फौरन तेवर चढ़ा कर बोला, "चुप बदमाश ! झूठ बोलता है। बीमारी किसके यहाँ नहीं

है। ऐसे बहानों पर बेगार छोड़ देंगे तो सरकारी काम कैसे चलेगा? तुझको अभी इसी वक्त चलना पड़ेगा।

रूपसाय बेगार देने में कभी आना-कानी नहीं करता था। पर बहुत प्रयत्न करने पर भी अब की उसकी हिम्मत रुकमिन को अकेले छोड़ जाने की नहीं होती थी। उसने सिपाही के पैरों पर सिर रख दिया और गिड़गिड़ा कर कहने लगा—"महाराज, तुम माँ-बाप हो। एक बार मुझे छोड़ दो। आगे जब जिस वक्त जैसा कहोगे मैं सेवा करूँगा। मेरे आगे-पीछे कोई नहीं है। गाँव में बीमारी है। स्त्री बीमार पड़ी हुई है। मेरे चले जाने से कौन उसकी सेवा करेगा। इस बार मेरी रक्षा कर लो माई-बाप। इसका उपकार मैं जन्म भर नहीं भूलूँगा।"

सिपाही ऐसे व्यवहार का आदी नहीं था। उसके अफ़सर उससे ठोकर से बात-चीत करते थे। जिनके ऊपर उसका बल था, उनके साथ वह भी अपने अफ़सरों की नीति का अनुकरण करता था। इसीलिए शरणागत रूपसाय की विनय का उसने श्रीचरणों से उचित सत्कार किया और तुच्छ कर्मचारियों के स्वाभाविक असन्तोष के कारण, डंडा तानने की भी तैयारी करने लगा।

पड़े ही पड़े रूपसाय ने कहा—"मार लो महाराज, मुझे जितना चाहे मार लो। जी भर कर मार लो। पर इस विपत्ति में मुझको घर से निकालो मत। दुहाई है, मा-बाप! दुहाई!"

सिपाही के दो-चार डंडे खाने पर भी जब रूपसाय न उठा, तब बाल पकड़ कर खींचते हुए उसने कहा, "बहानेबाज़, सुअर का बच्चा! तू चलेगा और तेरा बाप चलेगा। अगर जीते जी न जायगा तो यहाँ से तेरी लाश जायगी। समझ क्या लिया है तू ने सरकारी हुक्म को?"

रूपसाय को इस स्वर में फिर से स्पष्ट सत्य का अनुभव हुआ। वह धीरे-धीरे उठ बैठा। विनम्र-भाव के स्थान पर उसकी मुखाकृति में एक

प्रकार की भयङ्करता आ गई। आँखें लाल हो गईं। विशाल वक्ष-स्थल फूलने लगा। गाँव वालों की ओर घूम कर उसने कहा, "देखते हो भाई, यह अन्याय, यह पशुता, यह कठोरता? तुम लोग जानते हो कि मैं ने सरकारी काम में कभी बहाना किया है या नहीं? खुद देख लो कि मैं सच कहता हूँ या झूठ।" उसने पुकारा, "रुक्की, रुक्की!" रुकमिन गोलमाल सुनकर दरवाजे पर आ लगी थी। आसूँ पोंछते हुए बाहर निकल आई। उसकी गति में शिथिलता थी। चेहरे पर मुर्दनी छा रही थी। आँखें घुसी हुई जान पड़ती थीं। गाँववालों ने देखा कि उस पर महाविपत्ति की छाया पड़ गई है। हर एक की त्यौरी तन गई, बाहु फड़क गये। रूपसाय ने चिल्ला कर कहा, 'कहो भाई! किसकी हिम्मत है जो ऐसी हालत में मुझे घर से निकाल ले जाय।" गाँववालों की ओर से उसकी दृष्टि घूम कर सिपाही के मुँह पर ठहर गई। सिपाही ने देखा कि कुटे-पिटे असामी के स्थान पर बलिष्ठ रूपसाय आग्नेय नेत्र से उसकी ओर देख रहा है। उसका रङ्ग फीका पड़ने लगा। हवाइयाँ उड़ने लगीं। सर झुक गया। पट्टे पर नज़र पड़ी। मर्यादा का स्मरण हो आया। गांव के कोटवार की ओर घूम कर उसने कहा, "तुम सरकारी आदमी हो। सरकार तुमसे मदद की आशा करती है। तुम्हारे गाँव में सरकारी काम में ऐसी लापरवाही हो रही है। तुम्हारे सामने सरकारी आदमी की यह इज्ज़त हो रही है। आज नहीं तो कल इसके ज़िम्मेदार तुम होगे, इसके जवाबदेह तुम होगे। अभी तो जाता हूँ पर सात साल तुमसे चक्की न चलवाऊँ तो सिपाही के नाम से कुत्ता पाल लेना"। अपना बोरिया-बँधना सम्हाल कर उसने चलने की तैयारी कर दी। परन्तु तीर निशाने पर जाकर चिपक गया। हाथ-जोड़ कर कोटवार रास्ते पर खड़ा हो गया। गिड़गिड़ा कर कहने लगा, "नहीं सरकार, ऐसा कैसे होगा कि बेगारी न निकलें और तुम चले जाओ। अभी खड़े-खड़े बेगारी निकलते हैं। किसकी हिम्मत है जो सरकारी काम में कोताही करें! और कोताही करके कोई रहेगा कहां? राज

से तो निकल नहीं जायगा"। गांववालों की ओर देखकर उसने कहा, "चलो, भाई ! जल्दी चलो। पानी में रह कर मगर से बैर नहीं हो सकता।" पहाड़ के पानी की तरह मुखिया का डर गाँववालों पर फैल गया। वे अपना-अपना काँवर-साँगा सम्हालने लगे।

रूपसाय को उसी तरह खड़े देख सिपाही ने सोचा कि हाथ छोड़ने में देरी हुई तो तरबूज़ फिर से रङ्ग बदलने लगेंगे। पटे के हाथ दिखलाते हुए उसने कहा, "बाँध लो साले को। इसका चालान किया जायगा।" रूपसाय ने देखा कि कोटवार और गाँववाले चुप हैं। रूपसाय ने देखा कोटवार और गाँववाले उसे बाँधने के लिए आगे बढ़ रहे हैं। रूपसाय की हुङ्कार आह बनकर निकल गई। रूपसाय का खून पानी बन कर बह गया। समर्पण की छाया देखकर सिपाही ने विद्युद्गति से हाथ छोड़ दिया। रुकमिन सिपाही के पैरों पर पड़ी। उसने कहा, "जाने दो महाराज जाने दो। माफ़ करो। सरकारी बेगार में जायँगे कैसे नहीं। अभी जायँगे।" घर में जाकर काँवर-सांगा और मोटे चावल की गठरी ले आई। रूपसाय को देते हुए उसने कहा, "जाओ, सरकारी काम करके जल्दी आना। तब तक मैं अच्छी हो जाऊँगी। मेरे लिए घबराना नहीं, भला।" रूपसाय ने देखा, रुकमिन के शब्द और संज्ञा में आकाश-पाताल का भेद है। जी बैठ गया। सिपाही ने धक्का देकर आगे बढ़ाया। रूपसाय के अभागे हृदय से एक महा करुणा-पूर्ण, दुःख-पूर्ण हूक निकली, उस हूक के साथ निकले दो शब्द "रुक्की रुक्की।" उस हूक के साथ शायद और भी कुछ निकला: रूपसाय, बड़ा लम्बा सफ़र है, कैसे तय होगा। रूपसाय, तुम शायद कुछ भूले जा रहे हो, कुछ छोड़े जा रहे हो, रूपसाय, तुम्हारी आत्मा शायद रुकमिन के चारों ओर चक्कर लगा रही है। क्या उसे यहीं छोड़ जाने का इरादा है ?

(३)

राजगाँव की राह पर काँधे पर काँवर लादे रूपसाय चला जा रहा

है। उसके आगे-पीछे बहुतेरे बेगारी उसी की तरह बोझ ढोयें रास्ता तय कर रहे हैं। उनमें से कितने आदमी अपने मा-बाप, स्त्री-पुत्र, को काल के मुँह में छोड़कर बेगार दे रहे हैं यह तो नहीं मालूम; पर सभी के मुँह पर क्षोभ की, शिथिलता की छाप लगी हुई है। रूपसाय के लिए क्या बोझ, क्या रास्ता, क्या दिन, क्या रात, सब एक स्वप्न-मात्र है। उसके साथी ठहरते हैं, पानी पीते हैं, तम्बाकू खाते हैं पर वह सिर्फ चलता है। कदाचित् उसे कुछ शान्ति मिलती है। इसीलिए वह बराबर समय की तरह चला जा रहा है।

हाथी के पास पहुँचने पर वह कभी-कभी दीवान साहब की ओर देख लिया करता है। वह सोचता है कि जिसको भगवान् ने हाथी पर बैठने की सामर्थ्य दी है, क्या उसे मनुष्य के दुख-दर्द समझने की सामर्थ्य नहीं दी होगी ? अवश्य दी होगी। क्या दीवान साहब के स्त्री-पुत्र नहीं हैं ? क्या दीवान साहब के लिए विपद्-बीमारी नहीं है ? ज़रूर है ! यदि मैं अपनी विपत्ति उनसे कहूँ तो इसमें सन्देह नहीं कि मेरी सुनाई अवश्य होगी। रूपसाय ने सोच लिया कि मुक़ाम पर पहुँच कर मैं अवश्य उनसे अनुनय-विनय करूँगा। वे राज्य के मालिक हैं। उनके हाथ से हज़ारों का न्याय होता है। मेरा भी न्याय अवश्य होगा। इस आशा से डूबते हुए को सहारा मिल गया। नाले पर काँवर उतार कर रूपसाय ने पानी पिया, मुँह धोया। फिर आगे चल पड़ा। स्वप्न टूट गया।

शाम को सब कोई मुक़ाम पर पहुँचे। दीवान साहब के हाथी से उतरते ही रूपसाय ने एक पैर पर खड़े हो, हाथ जोड़कर अभ्यर्थना की। दीवान साहब ने उसकी ओर देखा। उसी तरह खड़े हुए रूपसाय ने कहा "दुहाई है अन्नदाता ! मेरी स्त्री बीमार है। मेरे घर में और कोई दवा दारू करने वाला नहीं है। सिपाही मुझको ज़बरदस्ती पकड़ लाया है। मेरी रिहाई कर दी जाय अन्नदाता, नहीं तो बिना सेवा-फ़िकर के मेरी स्त्री मर जायगी। दुहाई है सरकार मेरी विपद् देखने वाला आपके

सिवाय और कोई नहीं है। मेरी रिहाई कर दी जाय।" दिन भर के सफ़र से दीवान साहब का दिमाग यों ही गरम हो रहा था। यह गिड़-गिड़ाना सुनकर पारा और भी चढ़ गया। पहले तो उन्होंने डाट-डपट कर रूपसाय को भगा देना चाहा पर जब वह पैरों पर गिर कर रोने लगा तब सिपाही को हुक्म दिया कि ले जाओ साले बदमाश को पचीस जूते लगाओ। ऐसी आज्ञाओं का उल्लङ्घन बहुत कम होता था। रूपसाय को ज्ञात हो गया कि हाथी पर चढ़ने के लिए मनुष्य को हृदय-हीन होना पड़ता है। स्वप्न फिर से आरम्भ हो गया।

इसके बाद दो दिन बाद जब रूपसाय दीवान साहब को राजगाँव पहुँचा कर, रुकमिन के लिए मूँगे की माला ख़रीद, घर की ओर लौटा तब, यह निश्चय है कि रुकमिन की आत्मा उसके चारों ओर चक्कर लगा रही थी।

(४)

अराजकता की आग तमाम राज्य में धीरे-धीरे फैलने लगी। शासकों के पशु-व्यवहार से अकाल-पीड़ित प्रजा कराह उठी। सहनशक्ति का अन्त हो गया। प्रजा के हृदय का भय घृणा में परिणत हो गया। अपमान के बदले अपमान और खून के बदले खून करने की तैयारियाँ चुपके-चुपके होने लगीं।

इन तैयारियों में रूपसाय का हाथ सब से ऊँचा था। रैयत को उभाड़ने में उसने रात-दिन एक कर दिया। विकट से विकट जङ्गल, अँधेरी से अँधेरी रात, ख़राब ऋतु, बीहड़ से बीहड़ रास्ते, उसकी गति रोकने में असमर्थ थे। शायद हिंसक पशु उसकी भयङ्कर मुद्रा को देख रास्ता छोड़ देते थे। लाल झण्डी लिये जहां पहुँच जाता, गाँव के गाँव उसके अनुगामी हो जाते थे। उसकी आकृति में न मालूम कौन-सा आकर्षण था, उसके शब्दों में न मालूम कितना जोश था, उसकी आज्ञाओं में न मालूम कैसा जादू था।

दीवान साहब के दौरे के दिन थे। आज इस गांव के सिर आफ़त आई, कल उस गांव पर पहाड़ फट पड़ा। गुप्त-मन्त्रणा करके बलवाइयों ने निश्चय किया कि पाप के घड़े के फूटने का समय आ गया।

रात को खेमे पर धावा बोल दिया गया। सिपाही, पहरेदार जो जैसे मिले, मारे गये। एक दल दीवानसाहब के खेमे की ओर बढ़ रहा था। सबसे आगे फर्सा-भाला लिये रूपसाय जा रहा था। उसके स्वर में वीरता की हुङ्कार थी, मुख पर विजय का उल्लास और आँखों में प्रतिहिंसा की आग। सिपाही शरीर-रक्षक उसे देख रास्ता छोड़ देते थे। जो सामने आता, वह आवागमन से छुट्टी पा जाता। अब रूपसाय दरवाजे पर पहुँच गया। एक ही हाथ में मुख्य प्रहरी को पार लगा, वह दरवाजे को पार कर गया। दीवान साहब बगलें झाँकने लगे। उन्हें पटक कर रूपसाय छाती पर चढ़ बैठा। अन्तिम समय आया जान दीवान साहब चिल्ला उठे, "रुक्की, प्यारी रुक्की।" रूपसाय काँप उठा। किसी भूली बात को स्मरण करने की चेष्टा करते हुए उसने कहा, "रुक्की!" इसकी भी कोई रुक्की है। उसकी शून्यदृष्टि अपने गले में पड़े हुए मूँगे की माला पर जाकर ठहर गई। लम्बी साँस लेकर वह छाती पर से उठ बैठा। खेमे से जाते हुए उसने देखा कि उसके दल वाले भीतर घुसे जा रहे हैं; पर न तो उसने इन लोगों को अपना बदला चुकाते हुए देखा और न इसके बाद कभी किसी ने रूपसाय ही को देखा।

क्यू० ई० डी०

यदि अ, ब, स त्रिभुज की अ, ब और ब, स भुजायें बराबर हों और कोण अ, ब, स कोण अ, स, ब के बराबर हो तो ब स भुजा—

कुछ इसी तरह का थ्योरम प्रवीण जी के सम्मुख था और बहुत प्रयत्न करने पर भी सिद्ध नहीं हो रहा था। आये तो थे कवि-सम्मेलन का सभापतित्व करने, पर कुछ ऐसे उखड़े हुए से थे कि मुझे सोशल गैद-रिंग की सफलता में सन्देह होने लगा। पैसे की कमी से एक ही तो 'स्टार' बुलवाया गया था और उसका यह हाल था! मैंने खोदने का प्रयत्न किया तब तो कुछ नहीं बोले, पर आधी रात को छटपटाते-छट-पटाते अपने आप बकने लगे—

"लखनपाल जी, आप तो जानते ही हैं कि मैंने आजीवन शिक्षार्थी जी के बालबच्चों की सेवा शुश्रूषा का व्रत ले रखा है। उन्होंने देश-सेवा की, यदि उनके कुटुम्ब के ही काम आ सकूँ तो—'सच कहता हूँ मैं यह समझूँ कि जीवन का सौदा ख़ूब हुआ।' इसी कारण अब तक घर-गृह-स्थी, शादी विवाह, किच्चों-पिच्चों की लौ-लपट से दूर रहकर, चौथेपन का स्वाद ले रहा हूँ। अब इस बुढ़ापे में ऐसी हँसी होना चाहती है कि सब किया-कराया मिट्टी में मिल जायगा।"

इस समय वे धुन में थे, मेरे विना पूछे भी सारा क़िस्सा बयान कर जाते। परन्तु श्रोता के कर्त्तव्य का पालन करते हुए मैंने पूछ ही लिया कि आख़िर मामला क्या है!

"इस हरिनन्दन को तो देखो ! मेरी गोद में पला, मेरी निगरानी में पढ़ा-लिखा, बड़ा हुआ। पिता की मृत्यु के बाद न जाने कितना खून-पसीना एक कर, उसे रोज़ी-रोज़गार से लगाया, विवाह-शादी की और अब उसके बच्चों की चाकरी कर रहा हूँ। कहाँ तो मैं सोचता था कि पिता से भी बढ़कर पुत्र का नाम होगा और कहाँ घर में चन्दा-सी बहू और राम-लखन की जोड़ी रहते, वह दूसरी शादी करने पर उतारू है। उसपर तो भूत सवार है, पर क्या कहेगी दुनिया मुझे और कहाँ रह जायगा उसके बाप का नाम ?"

"तो दूसरी लड़की अपढ़ होगी ?"

"नहीं जी, बी० ए० पास है—एक स्कूल में हेड-पाठिका है।"

'तो बहू अनाड़ी होगी ?"

"नहीं तो, वह भी इन्टर तक पढ़े है ?"

"तब तो इस मैट्रिक वाले की बुद्धि के बाहर की बात है, भाई। पर सोलह आने की एक सलाह चाहो तो मुझसे पूछो।"

"बताओ न और खोपड़ी किस लिये पचा रहा हूँ।"

"यदि उनके यहाँ कोई बीमार हो जाता, तो क्या करते ?"

"हकीम डाक्टर को बुलवाता और क्या करता।"

"और यदि चोरी हो जाती तो ?"

"तो पुलिस को इत्तेला देता, खुफ़िया तैनात करता, इनाम का इश्तेहार देता और थोड़ी सी ब्रह्मी घोंटकर तुम्हारे माथे पर बाँध देता।"

"नाराज़ न हो प्रवीण भाई". मैंने कहा, "यह मामला भी 'एक्सपर्ट' के हाथ सौंप दो। आज कल ऐसी कोई समस्या नहीं है, जिसको उस विषय के विशेषज्ञ हल न कर सकें। 'सेक्स' के अधिकतर 'केसेज़' अमृतसर के विख्यात डाक्टर चैम्बर्स के हाथ में जा रहे हैं। बस एक तार दे दो तो मामला तय है।"

(२)

"बेटी, तुमने खुद इस शादी को मंज़ूर कर लिया है ?" डाक्टर चैम्बर्स ने हरिनन्दन की बहू रूपलेखा से पूछा।

"हाँ।" उसने माथा झुकाकर जवाब दिया।

"तो तुम शीला को जानती हो ?"

"मैंने उसकी पाठशाला में शिक्षा पाई है।"

"उसकी शिक्षा-दीक्षा से तुम प्रभावित हुई हो ?"

"नहीं।"

"तब उसके स्वभाव ने गहरा प्रभाव डाला है ?"

"वह भी नहीं।"

"उसके रूप-रंग ने तुम्हें मुग्ध कर लिया है ?"

"नहीं, डाक्टर साहब !"

"यह भी नहीं, वह भी नहीं, कुछ भी नहीं, तब तुम किस बिरते पर उसे जन्म भर के लिए अपनी प्रतिद्वन्द्विनी बनाने के लिये तैयार हो ?"

"डाक्टर साहब—" कहकर रूपलेखा रुक गई और भूमि की ओर देखने लगी।

"देखो बेटी, हम लोग 'एक्सपर्ट' हैं। जैसे तुम्हारी 'सिंगर' मशीन सीने में एक्सपर्ट है, वैसे ही हमें भी समझो। न उसमें कोई 'फीलिंग' है, न हम में। हम से किसी बात का दुराव करना मशीन से खोंग छिपाने के समान है।"

"डाक्टर साहब, मैंने उस दृष्टि से कभी शीला देवी के बारे में विचार ही नहीं किया। मेरे लिये जैसे अन्य जीवित प्राणी हैं, वैसे वह भी एक है—इस से ज्यादा-कम कुछ भी नहीं।"

"ओह ! तब तो तुम्हारा 'केस' बहुत 'सिम्पल' है। लायलपुर में

मेरे पास दो केस इसी तरह के हैं। तुमने केवल बाबू हरिनन्दन के सुख-दुख का विचार किया है ?"

"जी हाँ।"

"और उनके सुख के लिये कोई त्याग करने के लिये तैयार हो ? सती-सीता-सावित्री की तरह ?'

"सुख के लिये नहीं डाक्टर साहब !"

"ओह ! अब समझा ! उनके जीवन के लिये। गले में फाँसी न लगा लें ! सेफ्टी रेज़र के ब्लेड से हाथ-पैर की रक्तवाहक नलियाँ न काट डालें ! यही न ?"

रूपलेखा सिर झुकाये बैठी रही। डाक्टर साहब कहते गये—"रोज़ झगड़ा होता है, तीन-तीन दिन मुँह फूला रहता है, आत्मघात के विविध उपायों पर व्याख्यान दिये जाते हैं ? यही न ?"

फिर भी रूपलेखा चुप रही, पर दो बड़े-बड़े आँसू गालों को भिगोते हुए छाती पर गिर पड़े।

डाक्टर साहब ने उठते हुए कहा—"बहुत सिम्पल केस है, बहुत सिम्पल केस है। कोई चिन्ता नहीं; ज़रा भी चिन्ता नहीं। जब तक हालत नहीं सुधरती तुम्हें दिन में चार बार से अधिक नहीं खाना चाहिये। और तुम पढ़ी-लिखी भी हो। 'पति, उनके क़िस्म और उनकी आदतें' नामक मेरी पुस्तक पढ़ने से बहुत कुछ फायदा हो सकता हैं।"

(३)

"मैं आप के प्रश्नों का उत्तर देने से इंकार करता हूँ। मैं इस इंटरव्यू को समाप्त करता हूँ।" हरिनन्दन ने झल्ला कर कहा।

"बिलकुल ठीक" डाक्टर चैम्बर्स ने कहा—"पेशावर में खानबहादुर

के लड़के ने भी यही कहा था और सियालकोट के सर्दार साहब का भतीजा तो मारने के लिये ही खड़ा हो गया था।"

"वही नौबत आने के पहले ही आप जा सकते हैं।"

"कभी नहीं। मैं लम्बी फ़ीस पर अमृतसर से बुलाया गया हूँ। केस के मुलाहजे के पहले आधी ही फीस दी गई है। न मैं पैसा खोने के लिये तैयार हूँ, न अपने 'पेट्रन' का विश्वास और न अपने प्रोफेशन की इज्ज़त।"

"तब आप अपमानित होने के लिये खूब अच्छी तरह तैयार हो जाइये।"

"सो तो हूँ ही। हमारे प्रोफ़ेशन में जितने पागलों से साबिक़ा पड़ता है, उतना और किसी ब्राञ्च में नहीं। अगर पागलों की मार का डर हो, तो हमें उनकी दवा करना ही छोड़ देना चाहिये। अच्छा; पहले आप अपनी मार-पीट कर लीजिये, फिर मैं अपना मुलाहज़ा शुरू करूँगा।"

हरिनन्दन के मुँह पर भी हँसी आ गई। कुछ देर में उसने उदास-भाव से कहा—

"डाक्टर, आप सच कहते हैं, मैं पागल हूँ—'स्टार्क मैड'—पर मेरे पागलपन की कोई दवा नहीं है।"

"बिलकुल नहीं है, यह मैं मानता हूँ। बल्कि ज्यों-ज्यों दवा की जायगी मर्ज़ बढ़ेगा।"

"तब आप क्यों फ़िज़ूल परेशान हो रहे हैं?"

"वक़फ़ियत के लिये, तजुर्बे के लिये, इल्म के लिये! एक मरीज़ मर जायगा; कोई हर्ज़ नहीं! लाखों मरीज़ मार कर ही मेडिकल साइन्स इस उरूज पर पहुँची है। एक और का मरना-जीना उसके लिये 'एक्सपेरी-

मेन्ट' से ज़्यादा-कम कुछ भी नहीं। पर इस तजर्बे से दूसरे सौ केस चंगे हो सकते हैं—यह भी तो सोचिये!"

"तब आप प्रश्न कीजिये।"

"आप शीला देवी को कब से चाहते हैं?"

"पाँच साल से।"

"यानी विवाह के दो साल पहले से?"

"जी।"

"फिर भी अपने विवाह में किसी प्रकार की दिक़्क़त पेश नहीं की?"

"नहीं की। माँ; प्रवीण चाचा, बहिन, कुल-मर्यादा, मान-सम्मान के गोरखधन्धे में ऐसी फँसी कि उन्होंने ऐतराज़ करने का मुझे मौक़ा ही नहीं दिया।"

"कमज़ोर, बहुत कमज़ोर।" डाक्टर ने सोचते हुए कहा—"मेरे रिसर्च की रू से आप का इश्क़ बहुत कमज़ोर है। आपने मेरी पुस्तक 'आशिक़ उनके क़िस्म और उनकी आदतें' पढ़ी है? नहीं? आपको पढ़ना चाहिये। उसको पढ़ कर आप यह जान सकेंगे कि आप किस छोटे दर्जे के प्रेमी हैं।"

"यदि ऐसी बात है तो आप उस रिसर्च में आग लगा सकते हैं।"

"आप नाराज़ क्यों होते हैं? यह बिलकुल 'ऐकेडेमिक' बात है। हरएक आशिक़ अपने को मजनू या फ़रहाद का सगा या चचेरा भाई समझता है, पर आशिक़ों का साइंटिफ़िक विभाजन करना बहुत मुश्किल बात है—रिसर्च का विषय है। उच्चकोटि का प्रेम एक-दो, दस-पचास क्या लाख-दो लाख को मारकर भी अपने प्रिय को प्राप्त करता है। उसके बाद प्रेम है जो लाठी से दो-चार खोपड़ियाँ रंग कर दुलहिन पर क़ब्ज़ा कर लेता है। उसके बाद वह है जो सगे-संबंधियों से नाता तोड़कर व तुड़ाकर प्रेयसी को ले भागता है। उसके बाद वह है जो निराश होते ही

आत्म-हत्या कर लेता है। उसके बाद वह है जो घुल-घुल कर ज़िन्दगी काट देता है। और आपका प्रेम ?—वह तो किसी गिनती में ही नहीं है। उसमें न आग है, न त्याग। वह एक प्रकार का स्वांग है। एक शादी कर ली। स्त्री को डरा-धमका कर दूसरी की। दोनों को डरा-धमका कर तीसरी की। इसको शास्त्र में कहते हैं—'पुरुष स्वभाव से बहु-विवाही प्राणी है।'

कुछ देर दोनों चुप रहे। अन्त में हरिनन्दन ने दफ्तर की फाइल उलटते हुए कहा—"ऑल राइट, डाक्टर—गुड बाई।"

डाक्टर ने उठते हुए कहा—"गुड इवनिंग, गुड इवनिंग और इस मुलाक़ात के लिये बहुत-बहुत धन्यवाद। मैं नुसख़ा प्रवीण जी को दे दूँगा परन्तु वे शायद ही उसका इस्तेमाल कर सकें। आपके अभिभावक, भाई-बन्द आप से नाता तोड़ दें; आपके स्वामी आप को पद से हटा दें; अन्य कार्यालय आप को टका-सा जवाब दे दें; तो तीन दिन में ही आप का रोग हट जायगा। यह भी कोई प्रेम है ? जिसने हँसी-खुशी शादी करा ली, जो घुड़कियों और धमकियों से पनप रहा है—छिः। आप प्रेम नहीं, नाज़ कर रहे हैं, क्योंकि आपके चारों ओर नाज़ उठाने वाले जमा हो गये हैं—इसीलिये नुसख़ा देना न देना बराबर है। गुड बाई।"

इतनी सच और स्पष्ट आलोचना सुनने की हरिनन्दन को आदत नहीं थी। वह सन्न रह गया—डाक्टर को दो-चार कड़वी-तीखी भी न सुना सका।

(४)

शीला देवी ने चाय बनाते हुए डाक्टर चैम्बर्स से पूछा—"शकर कितनी डालूँ, डाक्टर ?"

"एक सही तीन बटे सात चम्मच" डाक्टर ने गंभीरतापूर्वक कहा।

शीला देवी को मुसकराते देख डाक्टर ने कहा—"मैंने तो हँसी नहीं की।"

"मुझे इतना बारीक नाप नहीं आता"—शीला ने कहा।

"क्यों नहीं आता? प्रवीण जी तो कहते हैं आप ग्रेजुएट हैं, विद्वान हैं, सब कुछ जानती हैं, यहाँ तक कि प्रेम का भी कोई तत्व आपसे छिपा नहीं है; फिर शकर नापने में क्या अड़चन पड़ गई?"

"वह बात ही और है, डाक्टर साहब!"

"अर्थात् आप प्रेम का माप जानती हैं, शकर का नहीं। अच्छा बतलाइये तो, एक तोला प्रेम एक जीवन में मिलता है, तो दो तोला कितने में मिलेगा?"

"आप का प्रश्न ग़लत है।" शीला ने हँसकर कहा—"प्रेम के सम्मुख जीवन का मूल्य कुछ भी नहीं है।"

"और आपने वही अमूल्य प्रेम प्राप्त किया है?"

"शायद।"

"सब कुछ दे कर?"

"सोचती तो यही हूँ।"

"शिक्षा का भी कोई मूल्य नहीं?"

"प्रेम के सम्मुख कुछ भी नहीं।"

"अर्थात् आपकी सखी-सहेलियाँ, नाते-गोतेवाले यदि यह सोचें कि शीला देवी ने बी० ए० पास करके भी, ठुकराई हुई रूढ़ि के अनुसार, सौत रहते एक विवाहित पुरुष से विवाह कर तमाम शिक्षा-दीक्षा, तमीज़-तहज़ीब का गला घोंट दिया, तो भी आपको कोई दुख न होगा?"

"दुख क्यों होगा? 'धन दे, जी दे, लाज दे एक प्रीति के काज'।"

"तब इतना ज़बरदस्त प्रेम विवाह की प्रथा-विशेष में क्यों बँधना चाहता है?"

"आपका मतलब ?"

"मतलब यह कि सर्वस्व-समर्पण करने वाला प्रेम तो दिखाऊ विवाह के बिना भी प्रियतम में रत रह सकता है। यदि विवाह की प्रथा ही प्रेम को सत्य बनाती है, तो वह हरिनन्दन के केस में एक बार प्रयुक्त हो चुकी है। यदि प्रथा सत्य है और प्रेम असत्य, तो पहले विवाह का प्रेम असली था या दूसरे का होगा ?"

"मेरा प्रेम प्रथा का कायल तो नहीं, परन्तु···"

"परन्तु जीवन-निर्वाह की भी तो चिन्ता है।"

"तनिक भी नहीं, मैं स्वतन्त्र हूँ, स्वाधीन हूँ, स्वावलम्बी हूँ।"

"तब बिना विवाह के पचड़े में पड़े प्रेम की अनुभूति क्यों नहीं प्राप्त करती जातीं ? इस तरह के प्रेम ने तो कला की बड़ी-बड़ी वस्तुएं उत्पन्न की हैं। वैवाहिक प्रेम में तो बच्चों की ही अधिक प्राप्ति हुई है।"

"वही तो समस्या विकट है, डाक्टर साहब !"

"कौन-सी ?"

"बच्चों की। बिना विवाह के यदि बच्चे हुए तो उनका समाज में क्या स्थान होगा ?"

"परन्तु बच्चे होने की आवश्यकता ? जान पड़ता है हमारे दवाखाने का सन्तान-निरोधक सूचीपत्र अभी तक आपके पास नहीं पहुँचा। लीजिये यह प्रति आपकी भेंट है।"

"फिर भी तो धोखा हो सकता है ?"

"तब आप आपरेशन क्यों न करवा लें ?"

"और स्त्रीत्व को ही समाप्त कर दूं।"

"यह किस बेवकूफ ने कहा ? मेरे पास तीन केस हैं, जिनका आपरेशन हो चुका है। उनमें पहले से दुगना स्त्रीत्व है, कोमल भावनाएं हैं, मातृत्व है।"

"परन्तु यह जुर्म है न, डाक्टर ?"

"कभी नहीं, यदि डाक्टर उसे जरूरी समझे। आपके केस को मैं जरूरी समझता हूँ। आपका केस वहुत सिम्पल है। आपने मेरी पुस्तक 'प्रेमिकाएं, उनकी किस्म और उनकी आदतें' पढ़ी हैं ?

"जरूरत नहीं डाक्टर साहव, आप वही कीजिये कि सब न देकर आधा देने से ही काम निकल जाय।"

(५)

चैम्बर्स दवाखाना
अमृतसर
१०--४--४२

प्रिय प्रवीण जी,

आपरेशन के बाद ही शीलादेवी मेरे भतीजे के साथ कश्मीर चली गई थीं। मेरा भतीजा मेरा असिस्टेण्ट है और रिसर्च में लगातार मुझे सहायता दे रहा है। वह कल वापस आ गया। शीलादेवी ढाका के एक प्रोफेसर के साथ गुलमर्ग चली गई हैं और कदाचित सीज़न भर वहीं रहें। उनका वह पत्र, जिसमें उन्होंने निःस्वार्थ जीवन और प्रेम का नया मार्ग दिखाने के लिये मुझे धन्यवाद दिया है, इस पत्र के साथ नत्थी है।

आपका केस वहुत सिम्पल है। यदि अ, ब, स, त्रिभुज की अ, ब और ब, स अर्थात रूपलेखा और शीलादेवी भुजायें बराबर हों और शीलादेवी के अ, ब, स दृष्टिकोण के समान रूपलेखा का अ, ब, स दृष्टिकोण भी हो जाय, तो ब, स भुजा, हरिनन्दन भी उनके नीचे और उन्हीं की बराबरी की माप में पड़ा रहेगा। और यही तो सिद्ध करना था—(क्यू० ई० डी०)

आंपका
ए० बी० चैम्बर्स
(एफ़. आर. सी. एस., सेक्सोलोजिस्ट, इ.)

मयूरी*

कैसा हृदय था उन दिनों ! कल्पना में सुख, सुख में सौन्दर्य, सौन्दर्य में शान्ति का निवास था। शरीर की समस्त शक्तियाँ आंखों में आ बसी थीं, उस स्वर्गीय प्रतिमा को देखने के लिये, जो अतीत काल तक आत्मा को प्रेममय, आलोकमय, आनन्दमय बनाए रहती है।

पहले मैं ने ज्ञान की थाह लेनी चाही। एक पुस्तकालय था, जिस पर मेरा एक-छत्र अधिकार था। विस्तृत उपवन के हरे-भरे हृदय में वह छोटी सी इमारत खड़ी थी। जब मैं बैठता, तब महापुरुषों के अतिरिक्त वहाँ कोई नहीं आने पाता। वे भी क्या चलकर आते ? नहीं, हाथों-हाथ उठा कर, आँखों की राह हृदय में स्थापित कर लिये जाते।

अलौकिक एकान्त की अध्यक्षता में मैं पढ़ता--'पागल होने में एक सुख है, जिसका अनुभव पागल ही कर सकते हैं।' इसी पागलपन के लिये मैं पागल था। इस पागलपन के हाथ कौड़ी-मोल बिक जाने में ही, मेरे जीवन की सार्थकता थी। जब-कभी, 'आँख बन्द कर, स्वर्ग की सीमा में विहार करते अज्ञात विहंगम के मधुर गान को सुन, अव 'नीय उन्माद से शरीर सिहर उठता' तब मैं सोचता कि उस देव-दुर्लभ पागलखाने के द्वार अब मेरे लिये अधिक देर तक बन्द नहीं रह सकेंगे।

---

* यह रचना लेखक को अत्यन्त प्रिय है, क्योंकि इसमें स्व० भाई केशव पाठक कर बहुत बड़ा हाथ है। ले०

परन्तु, पोथी की विद्या पंडित बना सकी, रास्ता दिखा सकी, द्वार तक पहुँचा सकी। वह झाँकी, जिसे देख कर और कुछ देखने की इच्छा नहीं रह जाती, दृष्टि-पथ से ओझल ही रही। निश्चय दृढ़ था। वह द्वार खोलना ही पड़ेगा। वह सौंदर्य देखे बिना जीवन निस्सार है। अतएव इस संकुचित स्थान को छोड़ मैंने प्रकृति की विशाल गोद का आश्रय लिया।

वहुत सुन्दर स्थान था वह। 'नव-यौवना सुहागिनि के सिन्दूर की तरह पहाड़ी सड़क, तिमिर से निकल कर, आलोक में विलीन हो जाती थी।' 'एक ओर मेखलाकार, पर्वत अपार के सहस्र दृग सुमनों की अपूर्व छटा' और दूसरी ओर उनके क्षण-भंगुर जीवन से द्रवित, अनंत गति से, अनंत में विलीन होते हुए, निर्मल स्रोत का झर्झर। सामने क्षितिज तक फैला हुआ सघन वन और ऊपर दुग्धधाराच्छादित तारक-दल; पुष्पों ही के समान असंख्य, सुन्दर और रहस्यमय।

वहाँ, एक स्वच्छ शिला पर बैठ, मैं उस स्वर्गीय संगीत की ओर कान लगाए रहता, जिसका अभ्यास कर, मैं संसार को मंत्र-मुग्ध कर सकूँ। कुछ दिनों तक तो निर्झर के झर्झर और पक्षियों के कलरव में मैंने कवियों की अंबर-विहारिणी कल्पना का अनुभव किया, किन्तु शीघ्र ही सम्मुख, दूरी पर, वनान्त प्रान्त सहसा किसी भीगी, तन्द्रालसित मधुर ध्वनि से मुखरित हो उठा। अस्थिर पवन, उस अलसित आनन्द को मेरे कर्ण कुहरों तक लाकर, कुछ गुनगुनाने लगा मैं भी अब धीमे-धीमे उस ओर आकर्षित हो चला। परन्तु वह तो उस पहाड़ी से होकर जाने वाले डाकिये की घुँघुरुओं की झंकार थी। जो हो, इससे मुझे क्या? उसे देखने के लिये मैं उत्सुक नहीं था। हाँ, उसकी घुँघुरुओं में मेरा सुख-साम्राज्य समाया था।

विश्व के निर्माण वैभव से दूर, जगत् के इस इकलौते कोने में, प्रकृति का नीरव गान भी घुँघुरुओं की लय में मिलकर, सस्वर, साकार, संस्पष्ट जान पड़ता था। आँखें मूँद कर, जब-तक वह शब्द सुनाई देता,

मैं सुना करता—एक नहीं, अपनी समस्त ज्ञानेन्द्रियों को एकत्रित कर। किन्तु, यह क्या ? कुछ ही काल में चित्त फिर से खिन्न हो उठा। प्रश्न हुआ—क्या यह डाकिया ही मेरी सारी कल्पनाओं का कर्णधार है ?

किसी ने कहा—तो चलो, उससे ही क्यों न मित्रता कर ली जाय; इस निर्जन में बैठकर क्या होगा ?

(२)

इस समय एक परिवर्तन हुआ। स्वच्छाकाश के एक कोने से बादल के एक सफ़ेद टुकड़े ने झाँक कर देखा। चार आँखें होते ही प्रकृति कुपित हो उठी। उसकी आज्ञा से विपुल वायु ने बादल के टुकड़े से तुमुल युद्ध आरंभ किया। इस अधर्म से कुंठित हो आकाश हाहाकार करने लगा ; छोटा-सा टुकड़ा फूटा-फटा, काला पड़ गया, परन्तु स्थान-भ्रष्ट होना तो दूर, सारे आकाश में उसने अपना आधिपत्य जमा लिया। वसुंधरा ने नव-किशलय, नव पुष्प और नव फलादि अर्पित किए। विहग-संसार ने स्वागत-गीत गाए। सर-सरितायें आह्लादित हो उठीं।

मयूरी नाचने आई। कल्पना के संसार में सजीवता का समागम बड़ा भला मालूम हुआ। सभय नेत्रों से मयूरी ने चारों ओर देखा। मेरे प्राण सूख गए। कहीं वह डर कर अन्यत्र न चली जाय। सांस रोक कर मैं शिला पर पाषाणवत् बैठा रहा। न जाने उसने देखा या नहीं। धीरे-धीरे इन्द्र-धनुष के समान उसने अपने पंख फैलाए, और हृदयंगम हूक का परित्याग कर, नाचने में निमग्न हो गई। उसके पद-संचालन, उसके ग्रीवा-विलास, उसके पंख-विन्यास में कितनी कला, कितना कौशल, आह ! कितनी मादकता थी ! झरने का संगीत सजीव हो उठा। प्रकृति की गोद विभूषित हो गई। ताल-तमाल मूतिवत् इस दृश्य को देखने लगे। मन-मयूर भी नृत्य-क्रीड़ा में अभिसूत्रित हो गया।

कुछ दिनों तक यही कार्य-क्रम चलता रहा। मयूरी नाचती हुई

आती और नचा कर चली जाती। उसे मेरे सौजन्य पर विश्वास था; मुझे उसकी सुन्दरता से प्रेम। नाचते-नाचते वह मेरे बिलकुल पास तक आ जाती। अपने हाथ से भोजन कराता तो उसे कोई आपत्ति न होती, इसका मुझे निश्चय था। उसे पुचकारने लगता तो कदाचित वह सुखी होती। उसके आने में यदि कभी तनिक भी विलंब हो जाता तो मैं व्यग्र हो उठता। यदि मेरे पहुँचने में भी कभी···। बस, नींव के इसी कोने में बालू भरी थी। असीम सुख के प्रवाह में उमड़ता हुआ हृदय, इस निर्बलता की ठोकर से, मिट्टी में लोटने लगता। कितनी बार मैंने चाहा अपने हृदय को उसके समीप रख दूँ; वह देख ले कितनी श्रद्धा, भक्ति प्रेम है उसके प्रति, इस छोटे-से हृदय में ! लाख यत्न किए; हाव-भाव से दिखलाया, बोल-चाल से बतलाया, रो-हँस कर भी समझाया; किन्तु व्यर्थ। कहाँ थी वह भाषा मेरे पास ? वह, आह ! क्या कहूँ, कौन-सी भाषा होगी वह ? हाँ, यदि उसको मैं सीख पाता तो सुख पूर्वक, अपने मन से; समस्त मानवीय चेतना, ज्ञान, विचार, विवेक, तर्क, अनुभव—सब कुछ, उसके बदले में दे डालता। विनिमय में मुझे उसीसे केवल दो बातें कर लेने की आकांक्षा थी। पर क्या यह सम्भव था ? नहीं—उस भोली अज्ञात, वनचरी के लिये मैं वन के अन्य जड़ पदार्थों के समान ही जड़ था, पाषाणों में एक पाषाण—संज्ञा-चेतना-विहीन !

तब; क्या कवि की वह भोली भावुकता, उद्दाम कल्पना, सुख-सौंदर्य का अखंड साम्राज्य सब कपोल-कल्पित ही है ? सत्य से दूर, मानवता से परे, क्या वह क्षण-भंगुर रसोल्लास का एक कोमल, सुखद स्वप्न-मात्र है जिसमें सचेत होना श्राप और सजग होना उस रत्न-राशि को खो देना है। क्या वहां भ्रांति ही शांति, उन्माद ही साधना, वासना और असत्य ही वास्तविकता है ? हृदय के इस उच्छृंखल इतिहास को ही गूँथ कर क्या कवि उसे कविता का नाम देता है ? तब एक प्रलपित मद्यप के उन्माद में और कवि की मूर्च्छना में क्या अन्तर है ? उसका आत्मविस्मरण

भी क्या नाटक के प्रेमी के समान ही क्षणिक और अभिनयमय नहीं ?

(३)

तब फिर उस सत्य को कहाँ ढूँढना होगा ? क्या उसका निवास जन-समूह के उस कोलाहलपूर्ण केन्द्र में होगा जहाँ मेल, प्रेम, विश्वास फटकते भी नहीं, जहाँ माया नीरस, अप्राकृतिक रंग-भूमि में, ईंट-पत्थर के लिये, अतीत काल से ईंट-पत्थर होता चला आ रहा है, जहाँ अनन्त-काल तक महाभारत का यह संस्करण प्रवर्तित होता रहेगा ?

अपने इस असमंजसमय जीवन से मैं ऊब उठा। चित्त कुछ उद्विग्न, खिन्न, शिथिल-सा हो गया। आंखों में तन्द्रा आई। इसी उधेड़-बुन में, मैं न जाने कब तक लेटा रहा।

अचानक, एक स्वर्गीय-संगीत से घाटी गूँज उठी। मैंने सोचा—स्वप्न है। आँखें खोल कर देखा। सामने के सघन कुंजों से छन कर किसी की मधुर कंठध्वनि समस्त वन-प्रदेश को रस से सराबोर कर रही थी। शब्द अस्पष्ट थे, पर लय बड़ी मीठी, बड़ी करुण, बड़ी आकर्षक। हृदय ने निश्चय किया कि संगीत बन्द हो जाने पर वनस्थली, से नाता टूट जाने पर, संसार-चक्र से शरीर के छिन्न-भिन्न हो जाने पर भी इस संगीत की मधुर ध्वनि को नहीं भूलेगा, नहीं भूलेगा

फूल चुनते और फल तोड़ते, वह अकेली सामने के झुरमुट में से निकली। आह रे सौंदर्य ! तुम्हीं को देखकर कवि का कंठ फूट पड़ता है। तुम्हीं को देखकर कवि आजन्म पवित्र रहने का व्रत लेता है। तुम्हारे हाथ से तोड़े जाने के लिये कवि अपना हृदय-कुसुम हाथों-हाथ लिए फिरता है। 'तुम्हारे सहज, सजीले तन को देख, और ढीले अधरों से प्रस्फुटित सुरीले, अधूरे, लचके गान को सुन, कवि सरल शैशव की सुखद सुधि में बरबस बह जाता है।' 'कभी किंचित अदृश्य पुष्प के सदृश और कभी गगन में एकाकी तारक के समान सौंदर्यमय बतलाता है।'

सहसा हृदय से एक मूक प्रार्थना उच्छ्वसित हुई—"देवि ! मैं पवित्र

हूँ, निर्मल हूँ, निष्काम हूँ; प्रेमी हूँ, भक्त हूँ, पागल हूँ। कब से एकान्त-सेवा कर रहा हूँ। कब से अरण्यरोदन में तल्लीन हूँ—केवल इसी दर्शन-सुख की आशा पर। दुखिया की रक्षा करो! मुझे पागल बनने दो, मेरा कण्ठ फूटने दो, मेरी लय बढ़ने दो।"

मौन आवाहन में अन्य कई प्रयोगों से अधिक शक्ति है। थोड़ी देर तक वह उस निकुंज में क्रीड़ा करती रही। फिर वीणा-विनिन्दित स्वर से, वन-उपवन को मोह-विनिद्रित कर, सुदूरवर्ती कुटीर-कुंज की ओर चली गई। जब तक सुनाई पड़ा, मैं, मुद्रित नयन, उस मधुर संगीत को सुनता रहा। क्षीणप्राय होने पर, परिसुप्त प्रकृति के साथ, उस स्वर को पकड़ने के लिये झपटा; परंतु तब-तक वह विलीन हो चुका था।

मैं ने उसका नाम रक्खा—मयूरी। घर जा कर नोट बुक की खोज़ की, कोने में पड़ी हुई बांसुरी की धूल झाड़ी और हृदय को उस विलीन संगीत का रस लेते हुए छोड़, सो गया।

एकान्त सोलहों कला से पूर्ण हुआ। कागज़ पर रँग चढ़ा। गुप्त वेदना वंशी की राह प्रवाहित होने लगी। वह रोज़ आती। ज्वार भाटे की तरह, संगीत की लहर से, हृदय को सराबोर कर, लौट जाती। यथा समय यह भक्त अधूरे छन्द और अर्धस्फुट संगीत की अंजलि ले, शिला पर बैठ जाता। वंशीध्वनि में कहता—'देवि, स्वीकृत करो!' कर्णप्रिय संगीत में उत्तर मिलता—'भक्त, अभी तनिक विलम्ब है।' बड़ा मीठा विलम्ब था वह, बड़ी सुखद परीक्षा थी। एक दिन मैं देर कर के गया। मयूरी के कटाक्षपूर्ण नेत्रों ने पूछा—'यही तुम्हारी भक्ति है।' सुखलोलुप हृदय ने उत्तर दिया—'इसी कटाक्ष के पुरस्कार के लिये तो!'

(४)

आह! किस पापी ने यह सुख-स्वप्न तोड़ दिया? फूटते हुए स्वर का गला घोंट कर तुझे क्या मिलेगा, बाबा! अधूरे छंदों को मेट कर

तू कौन जग जीत लेगा ? प्रकाश की एक रेख दिखा, मुझे अन्धकूप में मत ढकेल ! पागलखाने के पात्र को यह कठोर कारावास ? आश्चर्य ! अन्याय !! पशुता !!!

जीवन-सग्राम की वह दुखद कहानी हमारी, आपकी, सब की सामान्य सम्पत्ति है। जहां सूखी रोटी और मीठे टुकड़ों का अनंत युद्ध होता रहता है; जहाँ पीतल और सोने की निरख करना ही विद्वत्ता की पराकाष्ठा समझी जाती है; जहां नमक-तेल-लकड़ी जैसे गम्भीर सूत्र में वद्ध हो असंख्य नर-नारी आपस में छीना-झपट मचाए रहते हैं; वहाँ का हाल क्या कोई लेख-बद्ध करने की चीज़ है ? वहाँ लोग कल के पानी से फूल पैदा करते हैं और उन्हें कच्चे सूत में पिरो कर, वहुतेरे कच्चे संवन्ध निर्मित करते हैं। वहाँ लोग आकाश की ओर नहीं, अट्टालिकाओं की ओर देखते हैं। वहां मयूरी गँदले कीचड़ में ही क्रीड़ारत रहती है। पर, वहाँ मयूरी है ही कहाँ ? तितलियाँ हैं, तितलियाँ—जो आंखों के सामने-सामने नाचती हैं और किनारा न काट दिया जाय, तो सिर पर ही आ विराजती हैं।

एसे वातावरण में जो होना चाहिए था, वही हुआ। माया-राक्षसी ने भावुकता का अपहरण कर, सरसता को निचोड़, हृदय को शुष्क कर दिया। अन्त में आयु के भार से दबोच, एक धक्का मार, निकाल वाहर किया।

दुर्वल-जर्जर शरीर और टूटा-फूटा हृदय लिए मैं, हाँफता-कराहता पुराने स्थान पर पहुँचा। सव कुछ वैसा ही था, सिवाय इसके कि सुदामा की शिला पर एक घास-पात की कुटी निर्मिति हो गई थी। झाँक कर देखा। शिला पर सिन्दूर चढ़ा हुआ था, नीचे ज्योति जल रही थी और सामने भैरवी ध्यान-मग्न बैठी हुई थी।

जैसे ही करुण स्वर से पपीहे ने पुकारा—पी कहाँ ?' ध्यानांतरित

होती हुई भैरवी ने हृदय पर हाथ रख, मानो इंगित किया—'यहाँ, यहाँ !'—और आंखें खोल दी।

मैं एकदम चिल्ला उठा—"मयूरी !"

भैरवी ने श्वेत केशराशि को माथे से हटाते हुए, अनासक्त भाव से कहा—"प्रातः के भूले को आखिर संध्या को घर आना ही पड़ा।"

यह था मेरा पुनर्जन्म, मेरा अंतिम जन्म, मेरा वानप्रस्थ जन्म !

जय-पराजय

वे कमिश्नर थे। वे पाँच ज़िलों के मालिक थे। उनका बोल-बाला था।

और वह बेचारी—केवल सरदार की अम्मा। मोहल्ले-पड़ोस के लोग उसे इसी नाम से जानते थे, इसी नाम से पुकारते थे। परन्तु आप को इतने परिचय से सन्तोष कहाँ? इसलिये बतलाना पड़ता है कि सरदार के बाप, अबदुल्ला, उनके ख़ानसामा थे, जो कमिश्नर थे, जो पाँच ज़िलों के मालिक थे, इत्यादि।

बाल-बच्चों के साथ साहब लोगों के बीच में रहना नहीं हो सकता। इसलिये सरदार की अम्मा अपने पुराने घर में, महीने-दो-महीने में, अब्दुल्ला के आने की राह देखा करती थीं। जब कभी वे आते तब सरदार के लिये कुछ-न-कुछ ज़रूर लाते, जिसमें अपना भी हिस्सा लग जाता। और लगता क्यों न? टूटी-फूटी हिन्दी में, सरदार की ओर से, और सरदार की अम्मा की इबारत के अनुसार, हफ्ते-दो-हफ्ते में, कार्ड लिख-लिख कर कौन छोड़ा करता था?

मेरी समझ में यह नहीं आता था कि सरदार की अम्मा इतना कपड़ा कहाँ से पा जाती थीं। अकेले में या चार औरतों के बीच, सुबह-शाम, जब-कभी देखता, उनकी गोद में कपड़ा और हाथ में सुई होती थी। उन के मारे मुझे फटी धोती या बे-बटन का कुर्ता पहनना हराम था। जैसे-

जैसे समझ आती गई, मुझे सरदार की अम्मा की सर्वप्रियता का रहस्य मालूम होने लगा।

सुई की बदौलत हम लोगों के यहाँ सरदार की अम्मा इतनी प्रिय थीं कि कथा-पुराण में भी शरीक कर ली जाती थीं। पहली बार जब डरते-डरते प्रसाद दिया गया, तब उन्होंने कहा—अल्ला तो सब का एक है, बाई ! चाहे जैसे भी उसे मानो। वह सब का भला करता है। दिन में कई बार वे कहतीं—'या अल्ला ! सब का भला कर।'

और वे, जो पांच ज़िलों के मालिक थे, केवल नाम-मात्र के मुसलमान थे। रोज़ा-नमाज़ से उन्हें सरोकार नहीं, किसी की मौत-मिट्टी में शरीक होने की उन्हें परवाह नहीं, ईद-बकरीद में वे अपने बाबू से पूछते—'वेल, मुंशी ! आज तुम्हारा बड़ा दिन है ?' वे अधिकतर हुकूमत करते थे। जो समय बचता, उसमें काया-पलट की चिन्ता में निमग्न रहते। रंग और नाम के सिवाय उन्होंने सब कुछ बदल डाला था। रंग के लिए उन्होंने क्या-क्या कुछ नहीं किया, परन्तु ठग हैं साबुन वाले, धोखेबाज़ हैं फ़ेस-क्रीम के कारखाने और लुटेरे हैं पाउडर के व्यापारी। हाँ, अगली पीढ़ी को इस रोग से बचाने के लिए वे इंग्लिश डिग्री के साथ, एक गोरी मेम भी घसीट लाए थे।

नाम से वे इतने असंतुष्ट नहीं थे। एक तो खानबहादुरी की सजावट, दूसरे अंग्रेज़ों के बीच में बैठ कर 'अकबर-दि-ग्रेट' से अपना संबंध जोड़ने की डींग !

(२)

साहब लोगों के समान उन्हें भी शिकार का शौक़ था। एक दिन 'खब्बर' मिली कि पास ही के जंगल में रीछ ऊधम मचा रहे हैं। सुनते ही दिल की कली खिल गई। 'छोटी हाज़िरी, खाकर, वे मचान पर जा बैठे और बँगले के दर्वाज़ों पर रीछ-चर्म के पाँवपोशों का स्वप्न देखने लगे।

ठीक बारह बजे तक रास्ता देख, पेट भर 'वड़ा हाज़िरी' खा कर, मेम साहब ने हुक्म फ़र्माया कि साहब की 'हाज़िरी' मचान पर भेज दी जावे। सरदार के बाप ने बास्केट सँभाली और जंगल की ओर चल पड़े।

मचान पर हाज़िरी खिलाने का यह पहला मौका नहीं था। सरदार के बाप इन कामों में अभ्यस्त थे। अनुभव से उन्होंने जान लिया कि हाँका अभी दूर है। वे माचे की ओर झपटे। दुर्भाग्यवश एक ओर से ये और दूसरी से एक बे-हाँके का रीछ, साथ ही, माचे के सामने पहुँचे। दोनों एक-दूसरे को घूरने लगे। और वे, जो सुरक्षित स्थान पर बैठे हुए थे, कभी एक को घूरते, कभी दूसरे को; और ओंठ चबाते। अन्त में रीछ पर गोली छोड़ी। इतने बाल होते हुए भी वह बाल-बाल बच गया; हाँके वालों की ओर झपटा और कुछ लोगों को घायल कर, वन में विलीन हो गया। सरदार के बाप ने जान बची समझ, एक लंबी साँस ली;—परंतु दूसरे ही क्षण छाती में बन्दूक की गोली धँस गई, और कानों में ये शब्द—'ले, सुअर के बच्चे! शिकार बिगाड़ने का मज़ा ले!' अब्दुल्ला के मुँह से निकला केवल 'स…र…दा…र,' और प्राण-पखेरू उड़ गए।

इस खून-खराबी से शिकार की गति-विधि में कोई अंतर नहीं पड़ा। हाँका मचान तक आया, पर हाथ कुछ न लगा।

रात को क्लब में डिनर खाते हुए, 'रीछ के धोखे' काले खानसामे पर गोली छोड़ देने का क़िस्सा उन्होंने कुछ ऐसे ढब से बयान किया कि तमाम साहबों में ठहाका मच गया। इतनी सफ़ाई उनके लिये काफ़ी थी।

(३)

सरदार की माँ को अनाथिनी करने के लिये सवेरा हुआ। शोक के प्रथम प्रवाह में, मृत्यु के कारण की ओर उसका ध्यान ही न गया वह विधवा हो गई, उसका सर्वस्व लुट गया—इतना ही उसे दुख से

पागल कर देने के लिये पर्याप्त था। जब कुछ होश हुआ, तब लोगों ने समझाया कि रोना-धोना तो जन्म भर लगा रहेगा; अभी सरदार का मुँह देखो और कमिश्नर साहब के पैरों पर डाल कर आगे का कुछ प्रबंध करवाओ। अन्यथा रोना-धोना ही हाथ रह जाएगा।

कमिश्नर साहब के पास बड़ों-बड़ों की पहुँच मुश्किल से होती थी, परन्तु उनके प्यारे-चपरासियों ने आपसदारी के सबब सरदार की माँ को उनके सामने पहुँचा दिया। अखबार पर से आँख उठा कर साहब ने पूछा—"कौन है?"

सरदार की माँ ने कहा—"मैं कल तक अब्दुल्ला ख़ानसामा की बीवी थी, हुज़ूर; आज उनकी बेवा हूँ।"

"क्या चाहती हो?"

"इस बच्चे की परवरिश"—कह कर उन्होंने सरदार को साहब के पैरों पर लिटा दिया।

साहब ने बाबू को पुकार कर कहा—"इसे कुछ दे दो।"

"कितना हुज़ूर?" बाबू ने पूछा। साहब ने कुछ सोच कर कहा—"तीन सौ।"

अनाथिनी के तन-बदन में आग लग गई। उसके शौहर का मूल्य तीन सौ रु० ! फिर भी उसने अपने को सँभाल कर कहा—"हुज़ूर, मुझे तीन सौ या तीन हज़ार नहीं चाहिए। मेरा तो जो कुछ जाना था, जा चुका। वह वापस नहीं आ सकता। अब इस अनाथ बच्चे की ज़िन्दगी आप के हाथ है। जब-तक अपने हाथ-पैर का नहीं हो जाता, इसकी परवरिश का कुछ इन्तेज़ाम कर दीजिए। अल्लाह आप का भला करेगा।"

साहब ने कहा—"ज्यादा बकबक सुनने का हमें वक्त नहीं है। कानून की रू से हम एक पैसे के भी देनदार नहीं। यह तो हमारी मेहरबानी है कि तुम्हारी मदद कर रहे हैं। लेना हो लो, वरना रास्ता नापो—चपरासी!"

सब्र का बाँध टूट गया। घायल शेरनी की तरह उसने कहा—"वाह रे तुम्हारा कानून और वाह रे तुम्हारा रहम ! मैं न कानून सीखने आई हूँ, न भीख माँगने। यह मौका देने आई हूँ कि अपने पाप का प्रायश्चित कर लो। तुम्हें मंजूर नहीं तो मुझे अपने शौहर की जान तीन लाख में भी नहीं बेचनी। जो सब से बड़ा हाकिम है, वह तुम से निपटेगा; घबराओ मत।" दोनों हाथ आकाश की ओर उठा और 'या अल्ला-इन्साफ !' कहती हुई वह बँगले के बाहर चली गई। साहब बुत हो गए; बाबू-चपरासी देखते रह गए।

गरीबों की कहानी ही क्या ? पेट ढाँकने लगे तो पीठ खुल गई, पीठ ढाँकने गए तो पेट खुल गया। इसी तरह सरदार की अम्मा की गुजर होने लगी। कुछ सिलाई इस कारण बन्द हो गई कि अब मेहनत का बदला विशुद्ध स्नेह नहीं था और कुछ इसलिये कि सिले कपड़ों पर आँसुओं के दाग रहते थे, जो अशुभ माने जाते थे। सरदार की अम्मा मनाती—'या अल्ला, उपवास भेज, दुःख भेज, तकलीफ भेज पर तिथि-त्यौहार, मेले तमाशे कुछ दिनों तक रोक रख। अभी मेरा भोला सरदार अपनी स्थिति नहीं समझता है।' और तिथि-त्यौहारों के अवसरों पर वह आकाश की ओर हाथ उठा कर कहती—'या अल्ला इन्साफ़ !'

उधर वे, जो पाँच जिलों के मालिक थे, दिन-पर-दिन ऊँची पैंग ले रहे थे। पेंशन के पहले वे के० सी० आई० ई० हो जाना चाहते थे। बहुत खुशामद-बरामद की, बहुत दौड़-धूप की, बहुत खिलाया-पिलाया और मातहतों तथा रियाया पर बहुत दबाव और सख़्ती दिखलाई, पर सरकार ने केवल 'सी० आई० ई०' देकर उनकी छोर-छुट्टी कर दी। अब 'के०' कहाँ मिते ? दिन तो काबे की ज़ियारत के थे, पर 'नाम मेरा, दाम तेरा' की कहावत पर भरोसा कर,—'सर' के लालच में एक बड़ी रियासत के पैर पड़,—दीवानों में नाम लिखवा लिया।

(४)

उस रोज़ सरदार की अम्मा को तीसरा उपवास था, और सरदार

को पहला। दोनों ज्वर से पीड़ित थे। मेघ टूटे छप्पर पर टूटे पड़ते थे, हवा मुट्ठी भर हड्डियों की हस्ती आज़मा रही थी। दाँत से दाँत और पेट से पीठ लड़ रही थी। सरदार ने पुकारा—"अम्मा !"

अम्मा ने जान-समझ कर भी पूछा—"क्या है, बेटा ?"

"अम्मा, भूख !" हाय ! यदि वह अम्मा की जान माँगता, तो कितना सरल था उसे दे देना। परन्तु भूख ?—भूख के लिए तो अन्न चाहिए ! कहाँ होता है अन्न ? कैसा होता है ? सरदार की अम्मा ने कहा—'या अल्ला ! वही माँ हूँ मैं, और वही बच्चा है यह ; अगर तेरे भंडार में अन्न चुक गया हो, तो भेज दे माँ की छाती में थोड़ा-सा दूध।' पर आया आँखों में पानी। भीतर पानी, बाहर पानी ; संसार जलामय हो रहा था। तब, क्या प्रलय ? सरदार ने फिर पुकारा—"अम्मा ! अब तो नहीं रहा जाता।" डूबते हुए प्राणी की तरह, हाथ उठा कर, सरदार की अम्मा ने मानो अंतिम प्रार्थना की—'या अल्ला, इंसाफ़ !' और ; उसके हुज़ूर से ; पहला इंसाफ़ यह हुआ कि उसी दिन से अंजुमन ने इनकी परवरिश और सरदार की पढ़ाई-लिखाई की ज़िम्मेदारी अपने ऊपर ले ली।

उसी रोज़; वे बहुत प्रसन्न-चित्त थे। गवर्नर साहब का दौरा ख़ुशी-ख़ुशी समाप्त हो गया था। मुलायम बिस्तर पर पड़े, उन्हें चारों ओर बड़े-बड़े 'के०' दिख रहे थे। आँखें बन्द कीं तब भी एक बड़ा-सा 'के०' सामने आ खड़ा हुआ, परंतु क़यामत का 'के' था।

बँगले में कोहराम मच गया। नौकर-चाकर घबराए हुए दौड़ने लगे। वे पक्षाघात से ग्रसित हो गए हैं। अंग बिलकुल बेकाम हैं। जीभ ऐंठ गई है। डाक्टर कहते हैं—पंखा खोल कर सो जाने से यह उपाधि खड़ी हुई है। कुछ लोगों का मत था कि उड़ते साँप की छाया पड़ गई है। कुछ लोग कहते थे—'और खा लें—खाद्य-अखाद्य !'

परंतु सच तो यह है कि अनाथिनी की फ़रियाद, बड़ी लंबी यात्रा

तै कर, हाकिम के दरबार तक पहुँच गई और उसकी आज्ञा से अपराधी उन चक्कियों में डाल दिया गया, जो पीसती तो धीरे हैं, मगर एकदम महीन।

(५)

नर्क-यातना किसे कहते हैं ? मुँह से बोल नहीं सकते, आँखों से देख नहीं सकते, कानों से सुन नहीं सकते। उठना तो दूर, करवट लेने की ताब नहीं। नली से खाना ठूँसा जाता है और बाकी का वीभत्स व्यापार कौन करे। वे जीते हैं ? हाँ जीते है—जिस जिन्दगी से मौत, नहीं-नहीं नर्क हज़ार गुना अच्छा है, वही उनकी जिन्दएी है। वे अपना दुख व्यक्त करने की ताकत, न किसी की सहानुभूति से सांत्वना प्राप्त करने की शक्ति।

गोरी मेम साहब कुछ दिनों तक साथ दे, अस्वस्थता का वहाना कर, जो कुछ था बाँध कर, विलायत चलती बनी। जब-तक आशा थी, तब-तक अर्धगोरी औलाद, जो अपने को एंग्लो-इण्डियन कहती थी, चक्कर लगाती रही; पर जब देखा कि चिड़िया बे-बालों-पर है, तब 'आना न चाहें वे तो बहाने हजार हैं।'

महल-अटारी से नाता टूटा। अस्पताल में पनाह मिली। तीन साल के नर्क के बाद, जब मृत्यु ने कृपा-दृष्टि की, तब आत्माभिमानी मुस्लिम-समाज ने मिट्टी उठाने से इन्कार कर दिया। वड़ी कोशिश से अंजुमन के कुछ आश्रित विद्यार्थी तैयार किए गए, जिन में सरदार भी एक था। दो चार गैर मुस्लिम मित्र और कर्मचारी अर्थी के पीछे-पीछे चले।

जब यह विचित्र बारात थोड़ी दूर निकल गई, तब तक एक राहगीर ने पूछा—क्या बताएँ भाई, ये कमिश्नर थे, ये पाँच ज़िलों के मालिक थे, इनका बोल-बाला था; पर एक अनाथिनी की आह का भी बेशुमार बोल-बाला होता है।

●

वही रफ़्तार

"रिक्शा ! ओ रिक्शा !!"

शहर की बाहरी सड़क पर, जहाँ आवागमन कम था, झाड़ की छाया में खड़े, रिक्शा आता हुआ देख, एक बाबू साहब ने आवाज़ लगाई —"रिक्शा ! ओ रिक्शा !! खाली हो ?"

सवारी छोड़ कर, अड्डे पर खाली लौटते हुए रिक्शे वाले ने, खुश हो कर, धीरे-धीरे ब्रेक दबाते हुए रिक्शा रोक दिया और पूछा—"कहाँ जाएँगे, बाबू साहब ?"

"कहीं नहीं"—कुछ तैश में आकर बाबू साहब ने कहा,—"ऐसे रिक्शे पर कहीं नहीं जाएँगे जिसके चालक को बात करने की तमीज़ नहीं। हम पूछ रहे हैं—'ख़ाली हो ?' जिसका जवाब है—'हाँ या नहीं'।"

बात बिगड़ते देख रिक्शे वाले ने फुसलाते हुए कहा—"हाँ, हाँ, बाबूजी बिल्कुल खाली हूँ—खाली क्या हूँ बस आप ही की सवारी देने चला आ रहा हूँ। आइए, बैठिए।"

आगे बढ़ते हुए सवारी ने पूछा—"क्या लोगे, गोरखपुर का ?"

रि० वा०—"कुल एक अठन्नी। आइए !"

बा० सा०—"जी नहीं जाइए। बड़ी स्टेशन की एक सवारी छः आने और गोरखपुर की आठ आने ! कोई देहाती समझ लिया है क्या ?"

रि० वा०--"बाबूजी, देखिए तो, आग बरस रही है। फरवट ले चलूँगा, एकदम। आइए, छः आने ही दे दीजिएगा।"

बाबू सा०—"स्टेशन छः आने तो गोरखपुर चार आने चलना हो तो, नहीं चलो तो रास्ता नापो।"

उधर बाबू साहब ने कैंची-छाप सुलगाई, इधर रिक्शे वाले ने सोचा-शहर तक ख़ाली जाने से चवन्नी भली, और बोला—"आइए।"

आगे बढ़ते हुए बाबू साहब ने कहा—"यदि पहले से वाजिब बात कह देते तो शायद जात को रोटी लग जाती।" फिर बैठते-बैठते पूछा—"ब्रैक-ब्रेक लगता है ?"

"सब लगता है"—भीतर-भीतर झुँझलाता हुए रिक्शे वाले ने कहा और रिक्शा बढ़ाने के पहले, शेर-छाप सुलगाने की तैयारी की।

बाबू साहब फ़ौरन उछल कर ज़मीन पर आ रहे। बोले—"देखो, यह नहीं होगा। या सवारी ढो लो, या बीड़ी पी लो। हमें जल्दी नहीं है। कुछ देर हो जाय, मंज़ूर है। पर मुँह में तुम्हारा उगला धुआँ खाना और कपड़ों पर चिनगारी लेना, बिलकुल नहीं होगा।"

"अच्छा, अच्छा बैठिए तो; आप उतर क्यों गए ? चलिये, मैं बीड़ी बाद में पी लूँगा।" कह कर, सवारी दुबारा बैठने के बाद, रिक्शे वाले ने पैडिल मार दिया।

थोड़ी दूर पर कुछ देहाती बीच सड़क पर जाते हुए मिले। बाबू साहब ने देखा कि रिक्शे की घंटी बजती नहीं, और न रबर का 'हार्न' है, न बिजली का 'हूटर'। रिक्शे वाले ने बाईं ओर रिक्शे को काटा, एक चक्का कोलतार की सड़क के कटाव के नीचे पड़ गया। सवारी को धक्का लगा। रिक्शा देहातियों से बचते हुए आगे बढ़ गया।

बाबू साहब ने धक्के से तिलमिला कर कहा—"क्यों रे ! तेरे रिक्शे की घंटी बेकाम है और न कोई पोंगा है, तो भगवान का दिया हुआ

इतना बड़ा गले का घोंघा तो है। मुँह से कहते नहीं बनता—'भाई ज़रा हट जाओ।' कोई हामला सवारी हो, धक्के से पेट इधर-उधर हो जाय तो ?"

रिक्शे वाले ने कहा—"बाबू साहब आप तो हामला नहीं हैं।" बाबू बिगड़ पड़े—"क्या बेहूदा बकता है ? तुझ को ठीक चलना चाहिए। तुझे क्या पता कि हमारा दिल कमज़ोर है।"

रि० वा०—"अच्छा, बाबू, अच्छा। आगे ठीक चलूँगा।"

सामने इस दोपहरी में, सड़क सुनसान थी और उतार भी था। रिक्शे वाले ने एकदम फरवट छोड़ दिया। बाबू साहब ने उत्तेजित हो कर कहा—"यह क्या है ? धीरे ! रिक्शा चला रहा है या हवाई जहाज़ ? सब से फटियल और कमजोर तो सवारी है और तुम लोग समझते हो कि रिक्शा क्या मिल गया, जैसे इन्द्र का विमान मिल गया। रोज़ दो-एक लड़ते हैं, रोज़ दो-एक टूटते हैं। अभी ज़रा इधर-उधर हो तो करवट ले ले। पर तुम लोगों को तो फरवट के सिवाय कुछ सूझता ही नहीं, अरे, तुम्हारी जान की कुछ क़ीमत नहीं, सवारी की जान की तो है।"

इस लम्बी फटकार से रिक्शे वाला भीतर-ही भीतर जल-भुँज गया। चाल तो धीमी कर दी, परंतु रुखाई से बोला—"काहे को बरसे जा रहे हो, बाबू। जब आप को कुछ हो तो कहना। हम भी शहर में रिक्शा चलाते हैं, कोई देहात में नहीं।"

सवारी का पारा एकदम चढ़ गया—"जब कुछ हो जाय, तब बोलें ! जो देहाती है, वह शहर में भी रिक्शा चला कर देहाती ही रहेगा और देहातियों की-सी ही बात करेगा। जब कुछ हो ही जायगा, तब बोलने को रहेगा ही कौन ? एक 'लोक-वाहक' नहीं, 'परलोक-वाहक' से ज़रा छू जाने भर को देर है; फिर कहाँ हम, कहाँ तुम, कहाँ रिक्शा ? तब रह कौन जायगा, कुछ हो जाने पर बोलने के लिए ? और किसी नन्हे-

मुन्ने को लग गया, तो वहीं चार आदमी तुम्हारी मरम्मत कर देंगे और तुफ़ैल में शायद सवारी को भी कुछ परसादी मिल जाय।"

रिक्शे वाला तमतमा उठा था, पर इसी समय सुभद्रा नगर का मोड़ आ गया और उसने रिक्शा बाएँ घुमाना चाहा। तभी बाबू साहब ने कहा—"नहीं, सीधे चलो; बाहर-बाहर। मदन महल स्टेशन के पास से बाएँ मुड़ना।"

रि० वा०—"उधर से तो बहुत चक्कर पड़ जायगा, बाबू जी।"

बा० सा०—"कुछ चक्कर नहीं पड़ेगा। आख़िर ग्वारी घाट सड़क ही तो पहुँचना है। चाहे इधर से, चाहे उधर से; बात एक ही है। बड़ी बात यह है कि जिधर से सवारी चाहे, उधर से चलना पड़ेगा।"

रिक्शे वाले ने सोचा कि यहीं बाबू साहब को उतार कर, एक-दो धौल न दे सके तो कम-से-कम कुछ खरी-खोटी सुना, आगे बढ़ जाय। पर चार इकन्नियों, दो दुअन्नियों या एक चवन्नी की चमक ने, आग को भभकने नहीं दिया। मन ही मन कुड़मुड़ाते हुए वह बढ़ा और नाले के पार, उसने रिक्शे को बायीं सड़क पर मोड़ दिया।

"हाथ क्यों नहीं दिया, इशारा क्यों नहीं किया ?" बाबू साहब ने कड़ककर पूछा।

"मैं ने देख लिया था कि सड़क ख़ाली है।" उत्तर मिला।

बा० सा०—"इसका क्या मतलब कि सड़क ख़ाली है या भरी है। क़ानून बनाया गया है; क़ानून का पालन करो। क़ानून तुम्हारे ही फ़ायदे के लिये है। हाथ दे दोगे, तो हाथ टूट नहीं जायगा। नहीं दोगे; और कुछ हो गया, तो जितना घमंड है सब चकनाचूर हो जायगा। अरे अब तो अंग्रेज़ी राज्य नहीं है। अब तो अपना राज्य है, अपना क़ानून है। अब तो होश में आओ, रे मूर्खो !"

इतना कहना था कि फ़ौरन रिक्शा वाला उतर पड़ा। उसने गुर्रा कर कहा—"ख़बरदार ! जबान सँभाल कर बोलो ! नहीं तो सब बाबू साहबी धरी रह जायगी।"

बा० सा०—"ज़रूर, ज़रूर ! स्वराज्य न हुआ, भोंसलाशाही हो गई। क़ानून तुम तोड़ो, नियम तुम भंग करो, और कोई क़ायदे की बात करे, तो उसकी इज्ज़त उतारने को तैयार हो जाओ। बहुत अच्छे ! ख़ैर, कोई हर्ज़ नहीं। स्टेशन की पुलिस-चौकी पास ही है। ज़रा तुम्हारा नंबर दे कर आता हूँ। चाहो तो ठहरना, चाहो तो चले जाना।"

इतना कह कर वह तो सचमुच उतर पड़ा। रिक्शे वाले ने सोचा-शायद साला खुफिया तो न हो; चवन्नी मंहगी पड़ती दीखती है। किसी प्रकार क्रोध पी कर बोला—"आइए हुज़ूर, आइए। आप तो ज़रा में पाजामे से बाहर हो जाते हैं।"

"अब आए रास्ते पर"—कह कर बाबू साहब मुस्कराते हुए बैठ गए और रिक्शा वाला चल पड़ा।

ग्वारीघाट सड़क पर रिक्शे वाला दाहिने रेलवे क्रासिंग की ओर मुड़ने लगा; तभी सवारी ने कहा—"सीधे चलो। चौथे पुल से। इधर से दो-दो रेल के फाटक पड़ेंगे। गाड़ियाँ आती-जाती हुई तो घंटों लग जाएँगे।"

रिक्शे वाले का धैर्य अब समाप्त हो गया। उसने हाथ जोड़ कर कहा—"बाबू साहब, मैं बाज़ आया आपकी सवारी से, कृपा कीजिए और मेरी जान छोड़िए। आप से पैसे भी नहीं माँगता। आप को मोटर स्टैण्ड के अड्डे पर पहुँचा देता हूँ। वहाँ से आप दूसरा रिक्शा ले लीजिए।"

"यह नहीं हो सकता।" बाबू साहब ने डाँटते हुए कहा—"हमारा-तुम्हारा इकरार उसी समय हो गया जब हम रिक्शे पर बैठे थे कि तुम

हमें गोरखपुर पहुँचाओगे। किस रास्ते से जाएँगे यह हमारा काम है। पहुँचाना, तुम्हारा काम है। अगर तुम इकरार तोड़ते हो तो, चलो, हम मोटर-स्टैण्ड की पुलिस-चौकी पर तुम्हारी रिपोर्ट करते हैं।"

रिक्शे वाले ने सोचा कि यह बुरी छूत आज गले पड़ गई। अब इसे बिना घाट उतारे ख़ैर नहीं। माथे का पसीना पोंछ और आँखों के आँसुओं को रोक, उसने कहा—"चलो बाबू, चाहे जिस रास्ते से चलो जब फन्दा पड़ गया है तो उसे छुड़ाना ही पड़ेगा।" और उसने भँवरताल की सड़क पकड़ ली।

थोड़ी दूर चल कर बाबू साहब ने मुस्कराते हुए कहा—"फन्दे में तुम नहीं पड़े, हम फँसना चाहते हैं। बोलो, है हिम्मत ?"

रिक्शा वाला चुपचाप पैडिल मारता गया।

बाबू साहब ने फिर कहा—"चुप कैसे हो गए ? है कुछ साज-समान फाँसने का ?"

रिक्शे वाले ने बे-मन से पूछा—कैसा ?"

उत्तर—"यही, घुमाने-फिराने, सैर-सपाटे का ?"

रि० वा०—"घुमाने-फिराने का तो पेशा ही है। पर आपकी जैसी सवारी मिल जाय तो एक खेप में ही ढेर हो जायँ।"

बा० सा०—"हमारी जैसी क्या और ग़ैर जैसी क्या ? सवारी तो तभी घूमेगी जब बग़ल में कोई माल-टाल हो। है कुछ इंतजाम ?"

रि० वा०—"चुप रहो, बाबू। हम ऐसा काम नहीं करते।"

बा० सा०—"कहां के रहने वाले हो ?"

रि० वा०—"कौड़िया।"

बा० सा०—"सलेमाबाद कौड़िया ?"

रि० वा०—"हाँ।"

बा० सा०—"कुछ घर भेजते हो ?"

रि० वा०—"क्या घर भेजें, बाबू ? दो रु० तो कम्पनी ही धरा लेती है; मरम्मत और तेल- बत्ती अलग। रुपया-डेढ़-रुपया मर-कूट कर बचा भी, तो ऐसी मँहगी लगी है कि पेट को ही पूरा नहीं पड़ता।"

बा० सा०—"इसी लिये तो कहते हैं कि ऐसा उपाय करो कि रात-ब्रिरात एक-दो चक्कर लगाए और पांच-दस रु० जेब में। शहर में रहते हो, शहर की चाल चलो। कोई चीज़ हत्थे चढ़ाओ और चांदी काटो। नहीं तो यही दिन-दोपहर हाय-हाय; अंत में तपेदिक, मुँह से खून और मरने पर कफ़न की दो-दो।"

रि० वा०—"यह भले आदमियों का काम नहीं है।"

बा० सा०—"भले आदमी बनना था तो रिक्शा वाले क्यों हुए; कोई लाला-बाबू होते। हमें क्या ? ग़रीब आदमी देखा, नेक सलाह दे दी। मानो तो तुम्हारा काम, न मानो तो तुम्हारा काम।"

इस बीच रिक्शा हाऊ बाग स्टेशन के पीछे के मुहल्ले में एक गली में घुस चुका था। एक कच्चे, टूटे-से घर के सामने बाबू साहब ने रिक्शा रुकवाया और आवाज़ दी—"मनसुख, ओ भाई मनसुख।"

धारीदार जाँघिया पहने मनसुख बाहर निकला और बाबू साहब को देख, हँस कर बोला—"आ गए, भाई जग्गू। तुम्हारा ही रास्ता देख रहा था। सब-कुछ तैयार है। और—ऐसे कैसे ? अपना रिक्शा कहाँ छोड़ आए ?"

रिक्शे वाला यह सुन, एक क्षण भौंचक रह गया। फिर मनसुख से पूछा—"ये साला रिक्शे वाला है क्या रे ?"

मन०—"हाँ, भाई ! हम सब एक ही मेल के हैं।"

रि० वा०—"तभी साले ने ऐसी-ऐसी सुनाई हैं कि कान पक गया। जी चाहता है, उतार कर एक दस लगाऊँ। हरामी ने एक बात भी तो छोड़ी होती।"

मनसुख हँस रहा था और जग्गू पर्स से चवन्नी निकाल, रिक्शे वाले

को दे रहा था। रिक्शे वाले ने कहा—"अबे, जा बे। बाप-दादों ने रिक्शे के पैसे दिए ही होंगे?"

जग्गू—"ले बे। हम अपने मन से दे रहे हैं। ले, चवन्नी की जगह अठन्नी ले।"

रि० वा०—"अबे, रख साले। कफ़न के काम पड़ेगी।"

मनसुख बीच-बचाव कर, बोला—"तुम्हारा क्या नाम है, भाई।"

रि० वा०—"बारेलाल।"

मन०—"भाई बारेलाल, यह सच है कि नाई नाई से हजामत की बनवाई नहीं लेता। पर मैं ने जो रूखी-सूखी बनाई है, आओ हम तीनों बाँट कर खा लें और इस साले से पूछें कि आज क्या स्वाँग किया है।"

बारे०—"हाँ, यह हो सकता है।"

हाथ-पैर धो कर तीनों भोजन पर बैठे, तब जग्गू ने अपनी कहानी यों आरंभ की :—

"कल साढ़े सात बजे शाम तक तो मनसुख भाई, हम-तुम साथ थे। तुमने कहा—'जग्गू, कल मेरे साथ रोटी-नमक खा लेना।' मैं ने कहा—हाँ, इतने में ही मंडला की लारी आई और मुझे पिसनहारी की मढ़िया की पूरे एक रु० की जोड़ी मिल गई, तुम भी सवारी लेकर सराफ़ा चले गए। मैं ने जाकर सवारियाँ उतारीं, और रुपया चित्त किया। पंजा पूरा हो गया था। दिल बाँसों उछल रहा था। लौटते में अँधियारी भी उजयारी लग रही थी। पाँव से पैडिल और गले से तान मारते आ रहा था।

"देवताल के नुक्कड़ पर, गढ़ा की सकरी सड़क में कुछ घुस कर, एक मोटर दीख पड़ी। सुनसान था। पास पहुँच कर देखा, एक बाबू साहब हैंडिल मार रहे थे और बग़ल में एक लड़की खड़ी थी। मुझे देखकर पुकारा—'ओ भाई, तुम दोनों मिल कर ज़रा धकिया दो। मैं बैठ कर चलता हूँ। इनाम दूँगा।' मैं ने और लड़की ने काफ़ी धकियाया, पर मोटर न चली, और न चली। लड़की ने रुआँसी आवाज़ में कहा—

'भैया सिनेमा छूटने पर आएगा। नहीं मिली, तो घर में गर्दन उतार लेगा।' बाबू साहब ने सोच कर कहा—'पड़ी रहने दो मोटर। कल ड्राइवर ले जाएगा। चलो रिक्शा, प्लाज़ा टाकीज़।' अंधा क्या चाहे, दो आँखें। मैं दोनों को लेकर चला। साढ़े आठ का वक्त होगा बाबू साहब ने कहा—'जल्दी।' मैं ने कहा—'हवाई जहाज़ बना देता हूँ, हुज़ूर; पर इनाम मिलना चाहिए।' बाबू साहब ने कहा—'मिलेगा, भरपूर।' लड़की ने कहा—'खेल न छूट जाय?' बाबू साहब ने कहा—'क्यों घबराई जाती हो? तुम्हारा भैया अम्पायर टाकीज़ गया है, न? जैसा तुम्हारा हिन्दी सिनेमा में रंग था, वैसा उसका अंग्रेज़ी में होगा। अभी पहुँचते हैं।'

"बातों का मज़ा लेते, मैं भी फरवट बढ़ता गया और खेल छूटने के पाँच मिनट पहले ही प्लाज़ा पहुँच गया। लड़की तो भागी और बाबू साहब ने उतर कर, बटुआ निकाला। दस-दस के नोट भरे थे। एक मेरी तरफ़ बढ़ा दिया। मैं ने कहा—'यह क्या, बाबू साहब? आखिर उसका भैया भी तो आता ही होगा।' दाँत पीस कर बाबू साहब ने दो नोट दस-दस के थमाए और भीड़ में ये गये, वो गये, कहाँ गए?

"खाना तो आज तुम्हारे यहाँ खाना था। कोई चिन्ता नहीं थी। नोट जेब में उछल रहे थे। मैं ने सोचा—बहुत ढोया; एक दिन तो मैं भी बाबू साहब बनूँगा। दूसरे दिन आराम से उठकर, नहा-धो कर, बाबू साहब बन कर रानी ताल के ऊपरी चौराहे पर खड़ा हुआ। देखने लगा कि कोई बे-पहिचान का रिक्शा निकले तो बाबू साहबी का मज़ा लूँ। किस्मत का मारा बारेलाल फँसा। फिर तो क्या आनन्द आया है, भैया; बस दिल ही जानता है।"

बारे०—"हाँ बेटा, आनन्द क्यों नहीं आएगा। कलेजा छलनी कर दिया, छलनी।"

जग्गू—"जाने दे रे। अब हम तुम लोगों को आनन्द देंगे। आज दिन की मजूरी बन्द। तुम दोनों रईस बनकर रिक्शे पर बैठो, हम चलाएँगे।

कम्पनी में रिक्शा वापिस करेंगे। आज का किराया हम देंगे। फिर साढ़े तीन बजे का शो देखेंगे। 'श्री कृष्ण' में 'झनक-झनक पायल' लगा है। फिर रात को रिक्शे लेकर, अपनी-अपनी तक़दीर आज़माएँगे। समझे, बेटा बारेलाल, कोई चीज़ हत्थे चढ़ाओ।"

बारे०—"साले बेईमान। एक दिन की बादशाहत में ज़िन्दगी कट जायगी। गधे, घोड़े, बैल का काम करो, आधा पेट खाओ। फैक्टरी की छँटनी के मारे ऐसी भीड़ कि रिक्शा मिलना भी हराम और सुनते ऐसा हैं कि रिक्शा बन्द करके सरकार यह हमारी पशुओं की रोज़ी भी छीन रही है।"

मन०—"सो तो है, पर आज की तो आज से रही। सपूत की कमाई में चार का हिस्सा होता है।"

जग्गू—"सच है, आगे की कौन कहे। मनसुख भैया, तुम तो पढ़े-लिखे हो। तुमहीं बताओ कि आगे क्या होने वाला है।"

मनसुख गंभीर हो गया। एक कोने से उसने एक पुराना अख़बार निकाला और कुछ देर बड़े ध्यान से एक विज्ञापन देखता रहा। फिर बोला—'धीरज धरो, भैया। समय आने पर सब ठीक हो जायगा।"

बारेलाल ने पूछा—"कैसे ?"

मनसुख बोला—"ऐसे, कि जग्गू बाबू बना था न ? समय आने पर नकली बाबू का भेद खुल गया। इसी तरह समय आने पर नकली स्वराज्य और असली स्वराज्य का भेद खुल जायगा और समय आते क्या देर लगती है ? आ ही तो गया सन् सत्तावन, गदर का साल ! अभी दूध का दूध और पानी का पानी हुआ जाता है।"

सत्तावन, अट्ठावन सब बीत गए, परन्तु ग़रीबों के लिए तो—'वही रफ़्तार बेढंगी जो पहले थी सो अब भी है'।

भूल-भुलैयाँ

ग्यारह से पाँच तक शुक्ल जी का दफ़्तर था। मैं ने सोने का प्रयत्न किया किन्तु निष्फल। लखनऊ आ कर सोने में दिन बिता देने के लिये सुप्तेन्द्रियाँ तैयार नहीं हुईं। 'नवाबी परिस्तान' और 'लखनऊ की क़ब्र' के दृश्य आँखों के सामने नाच गए। क़ैसरबाग़ और इमामबाड़ों के मौन निमंत्रण ने तूफ़ान पैदा कर दिया। मैं ने सोचा कि दिन में इन दृश्यों का आनन्द ले लिया जाय, शाम को शुक्ल जी के साथ लखनऊ के सामाजिक जीवन का कुछ परिचय प्राप्त किया जावेगा।

मैं चल पड़ा। पूछते-पूछते क़ैसरबाग पहुँचा। वहाँ न परियाँ थीं, न नवाब। एक बड़ी दवा की दूकान, एक होटल, एक सिनेमा और बहुत-सी विविध सामग्रियों की दूकानें। मैं ने सोचा कि यह मुहल्ला पादरियों की बातों में आ कर ईसाई हो गया है। आगे बढ़ा। एक ओर कमरों की लंबी क़तार बनी हुई थी। पूछने पर मालूम हुआ कि नवाबी-काल में इन्हीं कमरों में बेगमें रहा करती थीं। अरे राम-राम! कहाँ वह पुतली महल का औपन्यासिक वर्णन और कहाँ ये बोर्डिंग हाउस के जैसे कमरे! इनसे अच्छा तो इलाहाबाद का ला-होस्टेल है।

इसी तरह आशा-निराशा का अनुभव करता हुआ, मैं बड़े इमाम-बाड़े के पास जा लगा। सड़क पर एक फेरी वाला छोटा-सा ठेला लिए चक्कर लगा रहा था। ठीक पता लगाने के लिये उससे पूछा—"क्यों भाई, इमामबाड़ा किस तरफ़ है?"

उसने कहा—"यही, आगे हुज़ूर। उस फाटक से दाहिने घुस जाइएगा।"

मैं ने पूछा—"उस बड़े फाटक से ?"

उसने कहा—"जी हाँ। चलिए, मैं भी तो उसी तरफ़ जा रहा हूँ।"

थोड़ी दूर चल कर उसने पूछा—"हुज़ूर तो अजनबी जान पड़ते हैं। दौलतख़ाना कहाँ है ?"

"ग़रीबख़ाना दक्खिन में है," मैं ने कहा। गाँव-क़स्बे का नाम-धाम बतलाना व्यर्थ था। मैं जानता था कि 'दक्खिन' कह देने से इधर वाले, विंध्य पर्वत और कन्याकुमारी के बीच के छोटे-से स्थान का, भरपूर अन्दाज लगा लेते हैं।

"दक्खिन," उसने कहा—"वाह, क्या कहना है दक्खिन का ! मैं तो कभी गया नहीं पर बाप-दादे दक्खिन का जिक्र छेड़ देते थे,—सच कहता हूँ, एक समाँ बँध जाता था।"

"अच्छा," मैं ने कहा—"आप के नेक बुज़ुर्गों को दक्खिन जाने की कौन-सी जरूरत पड़ गई थी ?"

वह—"हुज़ूर, बाप-दादों का क़िस्सा कहना, छोटे मुँह बड़ी बात हो जायगी। उन लोगों का भी एक ज़माना था। अमीरों में गिनती थी। शाही दरबार में इज़्जत थी। रात-दिन रईसी चहल-पहल बनी रहती थी। आज फ़लाँ नवाब की दावत है, आज फ़लाँ राजा की पेशवाई है। इसी सिलसिले में दक्खिन की भी आमद-रफ़्त होती रहती थी। एक ज़माना यह है, हुज़ूर, कि हम, उन्हीं की औलाद, दाने-दाने को मोहताज हो रहे हैं।"

रंग तो हज़रत का था आबनूस जैसा और शक्ल कोल-भीलों जैसी,

पर बातचीत का ढंग देख कर ताजुब होता था कि यह शख्स किस भट्टी की पीता है, जो इस मज़े में बहका जा रहा है।

थोड़ी दूर चल कर मुझे सिगरेट की तलब हुई। एक मुँह से लगाई, एक मियाँ फेरीवाले को दी। दियासलाई निकाली तो खाली। उसने बड़े अदब के साथ अपनी माचिस से एक सींक जला कर पेश कर दी। धुआँ उड़ाते हुए मैं ने कहा—"म्याँ, एक दे भी दो।"

"अभी लीजिए, हुज़ूर" कह कर उसने एक नयी डिबिया बढ़ा दी। जेब में हाथ डाला तो रेज़कारी नदारद। रुपया दिखलाते हुए मैं ने कहा—"रुपये की रेज़कारी तो नहीं है।"

वह—"अब तक तो फेरी ही फेरी हिस्से में पड़ी है, पैसों का मुँह नहीं देखा। कोई हर्ज़ नहीं, हुज़ूर दियासलाई रक्खें ; पैसा मिल जायगा।"

मैं ने ठेले वाले के पास जा कर देखा कि कोई काम की चीज़ हो तो खरीद ली जाय और उसी में माचिस का पैसा भी काट दिया जाय। सुई, सूत, मिट्टी और टीन के खिलौने, साबुन, माचिस, ऐसी ही चीज़ें ठेले पर थीं। मेरा मतलब समझ कर उसने कहा—"हुज़ूर के लायक़ भला क्या चीज़ हो सकती है ? हाँ, एक पुरानी छड़ी है, अगर पसंद आ जाय।" भीतर हाथ डाल कर उसने छड़ी निकाली। रूप-रंग में पुलिस केन के समान, पतरे की मूठ, पीतल की सामी, काली, हल्की लकड़ी।

"क्या दे दूँ ?"

"जो मर्ज़ी, हुज़ूर की" कह कर वह इस तरह बेफ़िक्र हो गया, जैसे सौदा पक्का हो गया हो। एक रुपये से कम देता भी कैसे ? दियासलाई का टैक्स चुकते ही उसने कहा—"यही बड़ा इमामबाड़ा है, हुज़ूर। बस, लखनऊ में एक ही चीज़ है।"

वह भी साथ-साथ बढ़ा। मैं ने देखा एक बड़े हाते के भीतर, पुरानी-

सी इमारत खड़ी है। दाहिने-बाएँ के खँडरों पर नज़र डालता, आगे बढ़ा। दर्वाज़े पर एक दरबान ने स्वागत किया, जो ग़दर के साल भी जीता रहा होगा। फेरी वाले ने उससे कहा—"देखिए, बड़े मियाँ, हुज़ूर दक्खिन के रईस हैं। इत्मीनान के साथ सैर कराइए।" वह तो सड़क की तरफ़ लौट गया और दर्बान ने मुझे एक लंबे-चौड़े हाल में पहुँचा दिया। इसमें संदेह नहीं कि इस कमरे की कारीगरी विचित्र थी। इतना बड़ा कमरा परंतु न एक डाँट, न एक खंबा। दरबान समझाने लगा—"सामने जो फ़ानूस दिखता है, मोहर्रम में उसमें तीन सौ वत्तियाँ जलती हैं।" मैं ने उत्सुकता से देखा और अवहेलना से आँखें हटा लीं। जिसने बम्बई के रायल आपेरा का बिजली का फ़ानूस देखा है, उसे ये पुरानी चीज़ें जँच नहीं सकतीं।

उसने फिर कहा—"देखिए हुज़ूर, इस हाल की बनावट! ऊपर छत पर आप को चार कोने दिखेंगे, नीचे फ़र्श पर छः कोने।" मैं उकता उठा। कारीगरी देखी है ताज और विक्टोरिया मेमोरियल की। यहाँ तो मैं भूल-भुलैयाँ देखने आया था, जहाँ नवाब वाजिदअली शाह अपनी चहेतियों के साथ छुआ-छुऔवल खेलते थे, जहाँ समूचा आदमी इस तरह ग़ायब हो जाता था, जैसे गवे के सिर से सींग और जहाँ दो गोरे विलीन हो कर गोमती में उतराते पाए गए थे। मैं ने पूछा—"क्यों जी, भूल-भुलैयाँ भी तो इसी इमामबाड़े में है?" उसने कहा—"अभी सैर कराता हूँ। ज़रा इस जगह पर ग़ौर फ़र्माइए। यहाँ नवाब साहब......"

गुस्से का घूँट पी कर मैं ने कहा—"अच्छा भाई, यह सब तो देख लिया। अब भूल-भुलैयाँ दिखाओ।"

एक बार उसने अपनी पुरानी दाढ़ी पर हाथ फेरा। मुझे डर लगा कि कहीं वह उसके हाथ ही में न रह जाय। फिर मेरी ओर कुछ सेकण्ड देखता रहा, जैसे कोई चिड़ियाघर के जानवर को देखे। फिर

"इधर तशरीफ़ ले चलिए, हुज़ूर" कह कर वह ज़ीने की ओर बढ़ गया। सीढ़ियाँ तय करते हुये दम फूलने लगा।

ऊपर बहुत से छोटे-छोटे खंड बने हुए थे। ऐसा जान पड़ता था कि इमारत अधबनी छोड़ दी गई है। फ़र्श पर चूना धूल हो रहा था। छत पर चमगादड़ें लटकी हुई थीं। कहीं-कहीं कबूतर गुटुरगूँ की आवाज़ लगा रहे थे और सब-कहीं उनके प्रताप से जी मिचलाने वाली बदबू फैल रही थी। एक कोठरी से दूसरी कोठरी में घूमते रहे पर इसके सिवाय कहीं कुछ नहीं। वाह रे नवाब वाजिदअली या नवाब आसफ़ुदौला! और वाह रे यह भूल-भुलैयाँ! मैं ने गोस्वामी किशोरीलाल जी पर बहुतेरा दाँत पीसा और प्रतिज्ञा की कि घर जाते ही पहले उनकी परिस्तानी कितावों की दाह-क्रिया करके, फिर जल ग्रहण करूँगा।

एक जगह दरवान मेरी ओर मुँह फेर कर खड़ा हो गया। मैं ने पूछा "बस?" उसने कहा—"नहीं हुज़ूर, ऊपर भी एक मंज़िल है।" ऊपर पहुँच कर एक लम्बा, चौड़ा, खुला छत देखा। यदि ऊबड़-खाबड़ न होता तो टेनिस कोर्ट बन सकता था। मैंने आँख गड़ा कर लाइनों का पता लगाने की कोशिश की, पर नवाबों को इतनी सूझ कहाँ?

नीचे उतरते हुए मैं ने निश्चय कर लिया कि इस बुड्ढे-खब्बीस को एक पैसा भी न दूँगा, चाहे कितना ही झुक कर सलाम क्यों न करे। भूल-भुलैयाँ के संबंध में मेरी कल्पना को भीषण आघात पहुँचा था। इस का दोष दरबान के माथे मढ़ देने में मुझे कुछ संतोष-सा मिल रहा था।

मैं इस प्रकार दर्वाज़े से बाहर हो गया, जैसे मेरे साथ और कोई है ही नहीं। दस-पाँच क़दम भी न गया होऊँगा कि दरबान ने आवाज़ लगाई—"हुज़ूर, छड़ी तो भूले ही जा रहे हैं।" छड़ी की आदत न होने के कारण, उसकी याद ही नहीं थी। वापस लौट कर मैं ने छड़ी के लिये हाथ बढ़ा दिया। उस समय वह बड़े ग़ौर से छड़ी की मूठ देख रहा था।

एकाएक सिर उठाकर उसने पूछा—"हुज़ूर, यह छड़ी आपको कहाँ से मिली ?"

मैं ने पूछा—"क्यों ?"

उसने फिर से मूठ पर आँख गड़ा कर कहा—"इस पर शाही ज़माने की कुछ इबारत लिखी हुई है।"

"क्या ?"

"देखिए।"

मूठ के ऊपर कुछ अरबी अक्षर खुदे हुए थे। वह मुझे हाल के एक कोने में ले गया। वहाँ नवाब साहब का एक पुराना सिंहासन रखा हुआ था। उस पर भी एक जगह कुछ-कुछ वैसे ही अक्षर खुदे थे। एक रुपये में ऐसी नायाब चीज़ पा जाने पर मैं मन ही मन प्रसन्न हो उठा। मुझे देने के लिये उसने छड़ी बढ़ाई पर वह खुद इतना उत्तेजित हो उठा था कि उसके हाथ से छड़ी छूट गई। मैं ने उठाकर देखा कि पक्के फ़र्श पर गिरने के कारण उसकी मूठ खुल गई है। उसे बैठाने की कोशिश करने लगा। ज़रा ध्यान से देखने पर मालूम हुआ कि छड़ी खोखली है और उसमें एक कागज़ का गोलमोल पुलिन्दा-सा रखा है। खुला हुआ सिरा ज़मीन पर पटका तो पुलिन्दा टपक पड़ा। कागज़ पुराना पर मजबूत था। उस पर अरबी की कुछ इबारत लिखी हुई थी और नक्शा-सा बना था। मैं ने कहा—"बड़े मियाँ ! इसमें क्या लिखा है, ज़रा देखो तो।"

उसने कहा—"आलिम-फ़ाज़िल होता तो दरबानी क्यों करता हुज़ूर ? हाँ, आप चाहें तो सामने मदरसे में चले जाइए। मौलवी साहब पढ़ देंगे।"

इमामबाड़े के फाटक की ऊपरी मंज़िल पर एक मदरसा था। मैं ने कहा—"बड़े मियाँ, ज़रा चले चलो न। मैं तो मौलवी साहब को जानता-वानता नहीं।"

उसने कहा—"हुज़ूर, इस वक़्त तो ड्यूटी पर हूँ। अगर किसी ने शिकायत कर दी तो मुसीबत में पड़ जाऊँगा।"

मैं उस लेख का मतलब जानने के लिए बेचैन हो रहा था। झट से दो रुपया दर्बान के हाथ में रख दिए और कहा—"आओ भी, इस धूप में यहाँ कौन आता-जाता है।"

बड़े बे-मन से वह राज़ी हुआ। मौलवी साहब से परिचय कराया—"ये दक्खिन के नामी रईस हैं। कुछ आप से पढ़वाना चाहते हैं। मेहरबानी कर के तकलीफ़ फ़र्माइए।" फिर उसने मेरी ओर कुछ नज़र करने का इशारा किया। मैं ने पाँच रुपये का नोट मौलवी साहब के हवाले किया। दरबान वापस लौट गया। मौलवी साहब ने कागज़ हाथ में लिया और बड़ी देर तक उसे उलट-पलट कर देखते रहे। फिर बोले—"देखिए साहब, यह अरबी की क्लिष्ट इबारत है। मुझ को दखल नहीं कि ठीक अर्थ लगा सकूँ। इसे तो किसी अरबी-दाँ मौलवी के पास ले जाइए। हाँ, ऐसा कुछ ज़रूर खुलता है कि किसी गड़ी हुई चीज़ की तरफ़ इशारा है।"

दिल बाँसों उछलने लगा। मैं ने कहा—"मैं तो परदेशी हूँ। आप ही किसी आलिम के पास ले चलें तो मेहरबानी हो।"

मौलवी—"तो आप थोड़ी देर ठहरें। आप का इतना इसरार है तो मदरसा बन्द होते ही, बड़े मौलवी साहब के हुज़ूर में पेश कर दूँगा।"

स्कूल बन्द होने पर मुझे ले कर मौलवी साहब चौक पहुँचे। चा-पानी का समय हो ही गया था। उन्होंने काफ़ी बेरहमी से, मेरे मत्थे, यह रुसूख पूरा किया। फिर गलियों-गलियों घुमाते एक टूटे-फूटे मकान पर पहुँच, आवाज़ लगाई। एक ऐसे खूर्रांट, गर्दन हिलाते हुए, बाहर निकले, जिनके सामने इमामबाड़े का दरबान बच्चा ही जाना जाता। बड़े अदब-तहजीब के साथ दुआ-सलाम हुआ। छोटे मौलवी ने मेरा वही परिचय दिया—दक्खिन के नामी-गिरामी रईस। मैं ने मतलब की बात

अर्ज़ की और छोटे मौलवी के इशारे से नज़र पेश की। इतने बड़े मौलवी को दस रुपये से कम भला क्या देता ? चार आने वाला चश्मा नाक पर चढ़ा, काँपते हुए हाथों से कागज़ ले, बड़े मौलवी मन ही मन इबारत पढ़ने लगे। उनके चेहरे का उतार-चढ़ाव देख कर मुझे निश्चय हो गया कि कोई महत्वपूर्ण भेद खुला चाहता है। अन्त में उन्होंने मुझ से पूछा—"जनावमन, यह कागज़ आप को कहाँ मिला ?"

मैं ने कहा—"जनावमन, यों ही रास्ता चलते हाथ लग गया।"

"यह ग़ैर मुमकिन है, जनाव। इस कागज़ में एक पुराना राज़ दर्ज है। ज़रूर यह किसी नवावी खानदान के क़ब्ज़े में रहा होगा।"

मैं सोचने लगा कि वह फेरीवाला काला कौआ सचमुच ही नवाव वंशी था क्या जी। मैं ने बनावटी झुँझलाहट से कहा—"रहा होगा, साहव। इस वक़्त तो कागज़ मेरा है। मैं इस इवारत का मतलव समझना चाहता हूँ। आप को इस काम के लिये कुछ और उजरत चाहिए हो तो फ़र्माइए, वर्ना साफ़ जवाव दीजिए।"

बड़े मौलवी—"वल्लाह ! आप तो नाराज़ हो गए। उजरत है क्या चीज़ ? इस काम के लिये उजरत नहीं, हिस्से की रकम देनी पड़ेगी साहव—रकम।"

मैं—"क्या ?"

ब० मौ०—"अजी इस कागज़ पर तो एक खज़ाने का पता दर्ज है। इमामबाड़े में जिस जगह खज़ाना गड़ा है, उसका नक़्शा भी साथ है।"

छोटे मौलवी एकदम चिल्ला पड़े—"वोम्मारा छप्पन करोड़ की चौथाई ! जिसको न दे मौला, उसको दे आसफ़ुद्दौला !"

मैं तो हक्का-बक्का-सा रह गया। ख़ज़ाना ! अररर नवावी ख़ज़ाना ! जिसका एक-एक हीरा एक-एक रियासत की क़ीमत का हो सकता है। सिर चकरा गया। जब कुछ होश आया तो मैं ने कहा—"दिल्लगी छोड़िये, हुज़ूर, और साफ़-साफ़ फ़र्माइए कि क्या माजरा है ?"

ब० मौ०—"सुबहान अल्लाह, जनाबे वाला ! आप ने यह दिल्लगी की बस एक ही कही। अजी यह कहिए कि इस वक़्त आपका सितारा उरूज़ पर है, जो ऐसी नायाब चीज़ हाथ लगी; और आपकी बदौलत हम मुफ़लिसों को भी नजात का एक रास्ता नज़र आया।"

इसके बाद की बातचीत बहुत गुप्त रूप से हुई। अन्त में यह तय हुआ कि आधे हिस्से में दोनों मौलवी साहबान, और दरबान, जिसकी शिरकत के बिना आगे बढ़ा ही नहीं जा सकता; और आधे हिस्से में दक्खिन का यह नामी रईस। दूसरे दिन, साथ-साथ, आगे पैरवी करने की ठहरी। छोटे मौलवी को रास्ते में शर्बत वग़ैरह पिलाते मैं शुक्ल जी के यहाँ लौटा। छड़ी सावधानी से सन्दूक में बन्द कर दी और शुक्ल जी के घर आने पर उनके साथ घूमने-फिरने के लिए निकल पड़ा।

रात कैसे कटी, क्या बतलाऊँ? इतना ही समझ लीजिए कि जितनी बार नींद टूटी, उतनी ही रियासतें लुट गईं। दूसरे दिन जैसे ही शुक्ल जी दफ़्तर रवाना हुए, मैं भी छड़ी सँभाल कर छोटे मौलवी साहब के यहाँ पहुँचा। घर कल ही देख लिया था। इस वक़्त उनकी एक तक़ाज़ेदार से झड़प हो रही थी। वह ज़िद कर रहा था कि पिछले चौदह रु० जब मौलवी साहब पटा देंगे, तब वह उन्हें घर के बाहर क़दम रखने देगा। यहाँ चौदह करोड़ की रकम फँसी हुई थी। इस टुटपुँजिए को चुकता कर मैं छोटे के साथ बड़े मौलवी के दौलतखाने पर पहुँचा।

संयोग की बात कि आज उनकी बावर्चिन नहीं आई थी; अभी तक खाना-पीना नहीं हुआ था। तय हुआ कि आज वे होटल की शरण लें। बुजुर्ग आदमी—पैदल तो चल नहीं सकते थे। ताँगा किया गया, भोजन-पान हुआ, जिसमें छोटे मौलवी भी बेरहमी से शरीक हुए और बिल चुकता कर, मैं इन सुहृदजनों के साथ इमामबाड़े में दाखिल हुआ।

मौलवियों ने निहायत शीरीं ज़बान में दरबान साहब को मेरा मत-

लब समझाया। उसने तो बड़े हाथ-पैर फटफटाए। "अजी साहब, यह इमामबाड़ा तो ख़ज़ानों का ढेर है। जिस जगह खोदिए, कुछ-न-कुछ हाथ लग ही जाएगा। इसीलिये तो सरकार ने मुझ जैसे मातबिर और ख़ानदानी आदमी को यहाँ तैनात किया है। मुझसे अमानत में ख़यानत नहीं होने की।" इत्यादि, इत्यादि। परंतु जब मैंने दस रुपये का नोट आगे बढ़ाया और मौलवियों ने आपसी साझे-समझौते का विश्वास दिलाया, तब वह किसी-किसी तरह नक्शे के मुताबिक राह दिखाने को तैयार हुआ।

फिर उसी भूल-भुलैयां में परिभ्रमण होने लगा। कहाँ तो हम लोग ऊपर की मंजिल पर थे और कहां नक्शे के मुताबिक चलते-चलते, ठीक उस बड़े हाल के भी नीचे पहुँच गए। मैं ने कहा—"बड़े मियां, कल तो यह जगह नहीं दिखलाई थी ?" उसने कहा—"हुज़ूर, यह जगह सब को दिखलाने की थोड़ी है।" बहरहाल, अँधेरे में कुछ आंखे फाड़ते, कुछ टटोलते हुए हम लोग एक ऐसे स्थान पर पहुँचे जहां जमीन कुछ गीली-सी जान पड़ती थी। दरबान रुक गया। बड़े मौलवी साहब ने कहा—"लीजिए जनाब, नक्शे के मुताबिक हम लोग मकसद पर पहुँच गए। अब यहां कुछ खुदाई करनी पड़ेगी।"

खुदाई के लिये सब्बल, कुदाली, फावड़े की ज़रूरत थी। यह सलाह तय पाई कि कल दरबान ये सब मुहैया कर ले और हम लोग चुपके-चुपके खोदने में लग जायँ। इस सब प्रबन्ध के लिये पेशगी दे कर, हम लोग बाहर आए और स्वच्छ वायु का सेवन किया। दरबान वहीं रुक गया, छोटे मौलवी मदरसे में; और बड़े मौलवी को उनके दौलतखाने में पहुँचा, और शाम को भी बावर्चिन न आई तो उनके भोजन का प्रबन्ध कर, मैं भी घर लौटा।

इसके बाद कहीं आने-जाने को जी न चाहा। छड़ी को सन्दूक में बन्द कर, कपड़े उतार—जो कि मैले हो रहे थे—बिस्तर पर लेट गया और जाग्रत अवस्था में अजीबो-गरीब स्वप्न देखने लगा।

दफ़्तर से लौटने पर शुक्ल जी ने स्वप्नों का मज़ा किरकिरा कर दिया। हाथ-मुँह धोकर ज्यों ही कपड़े बदलने के लिये मैं ने सन्दूक खोली कि वे चाय की सामग्री लिए उपस्थित हो गए। खुली सन्दूक में छड़ी पर नज़र पड़ते ही उन्होंने पूछा—"अच्छा मित्र, तुम्हें भी जादू की छड़ी मिल गई ?"

मैं—"इसके क्या मानी ?"

वे—"किसी नवावज़ादे से मिली होगी, क्यों न ?"

मैं—"इसमें हीरे-मोती का काम तो है नहीं कि नवाबज़ादे ही ऐसी छड़ी रख सकें ?"

वे—"भई, सच कहना ! किसी नवावज़ादी का भी पता-सुराग है या अब-तक ख़ज़ाने ही खज़ाने के चक्कर में हो ? और हां, पचीस-पचास से हल्के हुए या नहीं ?"

मैं—"क्या मज़ाक कर रहे हो जी ! यह छड़ी तो मैं ने अमीनाबाद पार्क की एक दूकान से खरीदी है।"

वे—"जरूर खरीदी होगी। तभी तो ताले-चाबी में बन्द कर के रक्खी है।"

मैं—"आख़िर आपका मतलब क्या है ?"

वे०—"मतलब यह है कि आप शहरों में शहर, लखनऊ में पधारे हैं। यह गोन्डवाना नहीं। यहां ख़ज़ाने और नवावज़ादियां ज़रा सस्ती मिलती हैं। उनसे सँभले रहिएगा, अन्यथा वह भूल-भुलैयां देखने को मिलेगी कि किशोरीलाल जी गोस्वामी भी झक रह जायँ।"

मैं ने दिखावे की हँसी हँस कर कहा—"यार ! फँसने वाले कोई तुम्हारे समान चोंच होंगे। हम दक्खिन के हुए तो क्या कच्ची गोलियां नहीं खेली।"

वैज्ञानिक सच कहते हैं कि वस्तु का नाश नहीं होता, केवल रूप बदलता रहता है। वैसे ही, भूल-भुलैयां का नाश नहीं हुआ, केवल रूप बदल गया है।

बहेलिनी और बहेलिया

कालेज पहुँचने पर घर में कुछ इज़्जत हुई। पहले तो कोई पूछता भी नहीं था कि क्या खाता है, क्या पीता है, कहाँ रहता है। परन्तु कालेज के विद्यार्थी होनहार माने जाते हैं, इसलिये उनको कुछ यश-सम्मान मिलने लगता है।

छुट्टियों में घर आते ही भाई का पत्र मिला—मैं यहाँ एक साहब को शिकार खिला रहा हूँ। दो-चार रोज़ घर रह कर चले आओ।

भाई के साथ सैर करने के लिए कितना रो चुका हूँ। इरादा हुआ लिख दूँ कि पढ़ाई-लिखाई के कारण आने की फ़ुर्सत नहीं होगी, पर एक तो आखेट का लालच दूसरे साहब से जान-पहचान। इन्कार कैसे करता?

शिक्षित हिन्दुस्तानियों के हृदयों में अंग्रेज़ों के प्रति समय-समय पर भय, प्रीति, घृणा के भाव हुआ करते थे। उस समय मेरे हृदय में प्रीति का भाव प्रबल था।

(२)

जंगल के किनारे डेरे लगे हुए थे। साहब से परिचय कराया गया। फ़ौजी अफ़सर था। कलकत्ते के पास, डमडम से आया था। शासक जाति के सब गुण-अवगुण उसमें विद्यमान थे। थोड़ा बोलता था; वह भी रोब के साथ। देशी आदमी को मुँह लगाना क़तई पसन्द नहीं था। इतना तो जान गया कि इसके साथ न वाई० एम० सी० ए० के

सदस्यों की तरह मेल-मिलाप हो सकता है न मिशन कम्पाउण्ड के पादरियों की तरह धार्मिक विवाद, फिर भी प्रातः-पर्यटन के प्रस्ताव अस्वीकृत नहीं कर सका।

बन्दूक, निशाना और शिकार के अतिरिक्त कोई बातचीत नहीं हुई। उसकी गोली अचूक थी। हाथ भर की बन्दूक में एक अंगुल की कारतूस भरता था—छर्रा नहीं, गोली। कौओं को पहले ताली बजा कर उड़ा देता था। फिर जिसे कहें, उसे गिरा देता था। एक क्षण में सब कुछ।

बातों ही बातों में मालूम हुआ कि शेर उसने कभी माचे से नहीं मारे। रायल बेंगाल टाइगर से यह रायल आर्टिलरी मैन बराबरी का युद्ध पसन्द करता था। ज़मीन पर तुम, ज़मीन पर हम। तुम पंजा चलाओ, हम बन्दूक चलाएँ। तुम हमें मारो, या हम तुम्हें मारें। शेरों से उसकी तबियत भर चुकी थी। इस तरफ़ वन-भैंसे का शिकार करने आया था। शिकारी खोज में छूटे हुए थे।

दस-ग्यारह बजे कुछ चिड़ियाँ लिये हम लोग कैम्प की ओर लौटे। चिड़ियों के निरीक्षण के बाद मेम साहब ने मेरी ओर देखा। साहब ने परिचयात्मक दो-एक शब्द कहे। मैं ने बाक़ायदा झुक कर और मेम साहब ने मुस्करा कर पारस्परिक परिचय हो जाने की स्वीकृति दी।

मेम साहब अंग्रेज़ी हिसाब से सुन्दर थीं। लाल-लाल मुँह, नीली-नीली आँखें और छूटे हुए बाल मेरी दृष्टि में भी अब जँचने लगे थे। परंतु यह आश्चर्य अवश्य था कि वे अभी निरी लड़की थीं और यद्यपि मोटी तनख्वाह और चैन की ज़िन्दगी के कारण साहब गोल-मटोल थे, फिर भी गाल और माथे पर झुर्रियों ने छाप मार कर पाँच पर शून्य रखने की सूचना दे दी थी।

दो ही तीन दिनों में मेम साहब से काफ़ी परिचय हो गया। वे साहब की तरह सरकार बहादुर नहीं थीं, यद्यपि चमड़े की मर्यादा उन्हें भी प्रिय थी। कालेज की गप-शप में उन्हें कुछ आनंद आता था।

खेल-कूद में भी दिलचस्पी रखती थीं। कई फ़िल्मों और पुस्तकों में मेरी-उनकी समान रुचि थी। इसलिए बातचीत की काफ़ी सामग्री मिल जाती थी।

हम लोगों की बातचीत में साहब बहादुर का ज़िक्र सब से कम होता था। मैं उनकी कोई बात यदि कभी ले उठता, तो वे विषय बदल देती थीं। इस कारण मैं भी इधर-उधर की ही हाँकता रहता था, यद्यपि मुझे संदेह होने लगा था कि इस अनमेल जोड़ी में कोई रहस्य है।

(३)

एक दिन सवेरे ही साहब ने उग्र रूप धारण कर लिया। किसको खाऊँ, किसको चबाऊँ सोचता हुआ वह कैम्प में टहलने लगा। जो सामने आया, उसकी आफ़त आई। किसीको मारा, किसी को डाँटा, किसी को फटकारा। खानसामे ने चुपके से भाई को ख़बर दी कि आज साहब एक दम गरमागरम है, ज़रा दूर का संबंध अच्छा रहेगा। भाई ने पूछा—"क्या भूत चढ़ जाता है जी कभी-कभी इस पर ?"

ख़ानसामा—"भूत नहीं हुज़ूर, चुड़ैल है। रात भर लड़ाई हुई है। अब किसी का गुस्सा किसी पर उतर रहा है।" दोनों ने एक भेद भरी हँसी हँस कर अपना काम आरम्भ किया।

पिछले दिन की ख़बर ले कर, शिकारी हाज़िर हो गए थे। एक ने वन-भैंसे का ठीक-ठीक पता दिया। भाई ने मेरी ओर देख कर कहा—"लो, टाले देता हूँ, आज दिन भर के लिये।" और साहब के डेरे की राह ली।

निर्दयता के साथ सिगार पीते हुए साहब ने शिकारी का बयान सुना, कुछ पूछ-ताछ की और समुचित उत्तर पाने पर शिकार की तैयारी करने लगा। भोजन करके वह शिकारियों के साथ रवाना हो गया, मेम साहब आराम पर गईं और नौकर-चाकरों ने चैन की साँस ली।

लगभग चार वजे मेम साहब के साथ चाय पी रहा था कि एक चपरासी एक चरवाहे को लिए आ उपस्थित हुआ। चरवाहे ने बयान दिया कि कैम्प के पास ही लगभग दो घंटे पहले चीता उसकी एक बछिया मार गया है। मेम साहब सुनते ही खिल पड़ीं। दौड़ी हुई भाई को बुला लाईं। चरवाहे से बयान दुहरवाया। माचा बाँधने की ताकीद की और मरी पर बैठने की तैयारी करने लगीं। मुझसे साथ चलने का प्रस्ताव किया, जिसे मैंने सहर्ष स्वीकार कर लिया।

हम लोग कैम्प से निकल ही रहे थे कि सबेरे वाला शिकारी हाँफता हुआ आया और धम्म से भाई के पैरों पर गिर पड़ा।" "क्या हुआ रे ? साहब कहाँ हैं ? शिकार हुआ या नहीं ?" आदि कई प्रश्न भाई ने फ़ौरन कर डाले।

शिकारी निरुत्तर। डाँट कर पूछने पर शिकारी ने अटक-अटक कर बतलाया कि लगभग तीन मील के चक्कर के बाद वन-भैंसा नज़र पड़ा। दोनों ने उसका पीछा किया। मार पर पहुँचते ही साहब ने बन्दूक तानी। शिकारी ने हरचन्द समझाया कि झाड़ पर चढ़ कर निशाना लेना अच्छा होगा। साहब ने नहीं माना। गोली उछाती लगी। भैंसा साहब पर टूट पड़ा। शिकारी दौड़ कर एक झाड़ पर चढ़ गया। साहब ने तरह दे कर बचाव तो किया, फिर भी सींग की नोक पे आ गए और जो भैंसे ने झटकारा तो दस गज दूर जाकर गिरे। भैंसा अपने ही वेग से आगे बढ़ गया। थोड़ी दूर से वह फिर साहब पर लौटा। ज्यों ही उस झाड़ के नीचे पहुँचा, जिस पर शिकारी बैठा था, उसने अपनी लाल पगड़ी भैंसे के मुँह के सामने फहरा दी। भैंसा चमक कर दूसरी ओर जंगल में भाग गया। साहब बेहोश हो गए थे। बड़ी-बड़ी मुश्किल से शिकारी ने चार-पाँच आदमी इकट्ठे किए, डोली बनाई और इस पर साहब को कैम्प तक लाने का प्रबंध किया। अब डोली आया ही चाहती है।

हम सब इंगित दिशा की ओर लपके। थोड़ी ही दूर पर डोली मिल गई। साहब को होश आ गया था। हाफ़पैण्ट ख़ून से तर था। जाँघ

पर रूमाल की पट्टी बँधी हुई थी। डेरे पर पहुँचते ही ब्राण्डी दी गई, पोटेशियम के पानी से घाव धोया गया, कपड़े बदले गए। सींग ने छेद तो किया पर जान पड़ता था कि मांस का घाव है। हड्डी बच गई। खून काफी बह चुका था। तुरंत पंद्रह मील दूर, अस्पताल ले जाना आवश्यक समझा गया। तदनुसार तैयारी होने लगी।

इसी बीच मेम साहब ने कहा—"थोड़ी देर और खबर न आती तो हम लोग निकल गए होते।"

साहब—"कहाँ ?"

मेम—"मरी पर बैठने। खबर मिली थी कि कुछ घंटे पहले चीते ने एक बछिया मारी है।"

सा०—" तो जाओ, बैठ आओ।"

मेम—"नहीं, अब अस्पताल पहुँचने की जल्दी करनी चाहिए।"

सा०—"अज़ी, ऐसी ज्यादा चोट नहीं लगी। आगे शिकार का मौक़ा भी नहीं मिलेगा। छुट्टी समाप्त हो रही है। कुछ आराम होते ही वापस लौटना पड़ेगा।"

मेम सिर झुकाए खड़ी रही। भाई ने प्रस्ताव पेश किया कि वे साहब को लेकर अस्पताल चलें। यदि समय रहे तो मेम साहब भी मरी से लौट कर रवाना हो जाँय, अन्यथा रात वहीं बिता कर सवेरे कैम्प तोड़ दें। इस तर साहब और मेम दोनों राज़ी हो गए।

(४)

मेम साहब की इस बेतुकी कारवाई से मुझे बड़ा झटका लगा। आखिर है तो पति-पत्नी, अनमेल है तो क्या हुआ ? लड़ाई-झगड़ा सभी में होता है। यह व्यवहार तो सरासर अमानुषिक है। पति अस्पताल में कराहे, और पत्नी शिकार खेले। मैं मेम साहब के साथ गया ज़रूर पर अब वह उत्साह नहीं रहा। मन में बार-बार प्रश्न उठता था—यह औरत है या शैतान की खाला ?

माचे पर बैठे-बैठे शाम हो गई। धीरे-धीरे चन्द्रमा वृक्ष के ऊपर उठ आया। मैं ने मेम साहब की ओर देखा। मुख पर विशेष उद्वेग के कोई चिह्न नहीं थे। मरी पर नज़र जमी हुई थी। मुझसे नहीं रहा गया। मैं ने पूछा—"क्या यह उचित है?"

मेम—"क्या?"

में—"यही, कि पति की आहत अवस्था में शिकार खेलना।"

उसने एक क्षण मेरी ओर शोखी से देखा, फिर मुस्करा कर कहा-—"मैं उसकी पत्नी नहीं हूँ।"

मैं—"तब?"

मेम—"मैं कलकत्ते में स्वतंत्र रूप से जीवन-यापन करती हूँ। छुट्टियों में ज़रा सैर-सपाटे के लिये ऐसे दो-एक उल्लू फाँस रक्खे हैं, समझे!"

लज्जा से मेरा सिर झुक गया। मैं ने मन ही मन कहा—"अरी वाह री वहेलनी?"

इतने में उसने मेरा हाथ जोर से दवा दिया। देखा कि सामने अंगारों के समान दो वड़े-वड़े नेत्र चमक रहे हैं। दन दन!! और चीता ज़मीन पर लोटने लगा। शिकारी उतर आए और हम लोग चीता उठवा कर कैम्प को रवाना हो गए। और वहाँ से रातों-रात अस्पताल को।

(५)

कई वर्षों के वाद इस रचना पर भाई की नज़र पड़ गई। उन्होंने हँस कर कहा—"हम तो पहले से जानते थे।"

मैं ने पूछा—"कैसे?"

वे—"वह साहव पहले भी दो वार आ चुका था।"

मैं—"तो?"

वे—"तो क्या? हर वार उसके साथ एक नई मेम रहती थी।"

लज्जा से फिर मेरा सिर झुक गया। मैं ने मन ही मन कहा—"अरे वाह रे वहेलिये!"

आठ रुपये, साढ़े सात आने

समाचार-पत्रों से आपको यह जानकारी होती होगी कि शहर जबल-पुर में समयानुकूल प्लेग, कालरा, इंफ्लुएंज़ा, टाइफ़ायड आदि बीमारियाँ आती रहती हैं। जबलपुर को एक बीमारी और है। बरसात में जब अक्सर और बीमारियाँ बढ़ती हैं, तब वह घट जाती है। बाक़ी आठ महीने—बल्कि अधिक—क्यों कि जबलपुर के अल्लामियाँ की फ़ैक्टरी में भूक-हड़ताल हो जाने के कारण यहाँ का बरसाती मौसम घट रहा है—अर्थात जब फ़रिश्ते ही भूखे हैं, तो इन्सान क्यों खाए—(वाक्य गटपट हुआ जा रहा है, इसलिये फिर से)—बाक़ी आठ महीने, बल्कि अधिक, यह बीमारी ज़ोरों से 'प्रकुप्त' रहती है। बहुत हुआ। यदि अब खोल कर नहीं कहूँगा तो आप झुँझला उठेंगे। यह बीमारी है—भेड़ाघाट या 'मार्बल राक्स' की बीमारी।

क्या मुसीबत है ! मेहमान आया है मेरे घर, किसी कालेज के कवि-सम्मेलन में भाग लेने। रेलगाड़ी से उतर, रिक्शा, टाँगा या मोटर पर बैठने के पहले वह इतना ज़रूर पूछेगा—'हें, हें, तो मार्बल राक्स तो दिखा दोगे ?' आगे हाल यह है कि यहाँ सब ख़ैरियत है—और यह कि मेहमान चाहे शादी में शरीक़ होने के लिये आए, चाहे मातमपुर्सी के लिये—किसी न किसी तरह वह इतना ज़रूर कहेगा—'हें, हें, तो भेड़ा-घाट या मार्बल राक्स तो दिखा दोगे ?' आप को पढ़ने का कष्ट न हो, इसलिये—'थोड़ो लिखो, बहुत बाँचियो, बहुत समझियो।'

और यह भेड़ाघाट भी क्या आफ़ते-जाँ है कि है तो कुल तेरह मील किन्तु बावजूद दुनिया और भूगोल के बदलने के आप टस से मस नहीं होते। हवाई जहाज़ों के कारण सब स्थानों की दूरियाँ मीलों कम हो गईं पर ये तेरह मील, जिन पर वायसराय, भारतीय जन-तंत्र के प्रमुख, त्रिपुरी कांग्रेस के प्रतिनिधि, अमरीकी तथा अन्य विदेशी सैलानी और मुन्नीजान, चुन्नीजान, छुन्नीजान यात्रा कर चुकी हैं, तेरह से न चौदह हुए न बारह। हम तो नागपुर की तारीफ़ करेंगे जो लड़ाई के पहले १६४ मील था और जब 'इन्फ्लेशन' (भाव बढ़ती) आया तब खटाखट १७० मील हो गया, अर्थात् ग्वारीघाट (१६४) का रास्ता बन्द और तिलवाराघाट (१७०) का रास्ता खुल गया, पर भेड़ाघाट ऐसा मट्ठर कि न बढ़ा, न घटा। न कोयला हुआ न राख।

इन तेरह मीलों के लिये कोई सस्ती सवारी (मेलों-ठेलों को छोड़ कर) नहीं चलती कि भोजन करके बैठें और देख-दाख कर, घर लौट कर भोजन करें। ये तेरह मील (नर्मदा मैया ! तुम कब पृथ्वी पर आई हो और कितने युगों में भेड़ाघाट बना पाई हो ?) सतयुग से आज तक तीन-तेरह नौ-अठारह नहीं हुए। ये तेरह मील तेनसिंह को चुनौती दे रहे हैं, बिड़ला जी को चुनौती दे रहे हैं। इन तेरह मीलों को जीतने के लिये या तो पैरों की ताक़त हो या पैसों की।

और हम जबलपुर-निवासी भी कितने दयनीय हैं। दिन-रात का कोई समय नहीं रह गया, जब मन से, बे-मन से, नक़दी से, उधार से, स्वस्थता में, अस्वस्थता में हमें भेड़ाघाट (देखने के लिये नहीं) दिखाने के लिये न जाना पड़ा हो। कितने-कितने, कैसे-कैसे मेहमान आते हैं, पर वे बाद में आते हैं और भेड़ाघाट तक पहुँचाने की मुसीबत पहले आ जाती है। कितने ऐसे हैं कि यदि भेड़ाघाट न होता तो वे हमारे मेहमान भी न होते और भेड़ाघाट चाहे वे कभी न भूलें, हमें तो गाड़ी छूटते-छूटते तक ही भूल जाते हैं।

(२)

शादी को बहुत दिन नहीं हुए थे, अर्थात् कुल एक सपूत और एक ही सपूतनी हो पाई थी। उस वक्त जबलपुर में नया-नया रोजगार शुरू किया। पुराने वक्तों की बातें हैं। आज तो लड़की को वर मिल जाय, बेकार को काम मिल जाए, और तो और, थर्ड डिवीजन वाले को साइन्स कालेज में दाख़िला मिल जाय, बे-घर को घर नहीं मिलता। उस समय खटाखट घर मिलग या। और, भाई, रोजगार चमके था न चमके उनका तो घर में तुरन्त चमकना आवश्यक और अनिवार्य हो ही गया।

और करेला जी आईं नीम पर चढ़ कर अर्थात् उन्हें पहुँचाने आए उनके बड़े भाई। छोटे आते तो कम से कम जीजाजी, लालाजी तो कहते ये कड़कते आए "ओ फलाने, ओ ढिकाने ! भेड़ाघाट का रास्ता तो ठीक है ?"

और मैंने हुकूमत छोड़कर रोज़गार शुरू किया था। मैं भी काफ़ी अक्लमन्द गधा हूँ। मैंने सोचा कि जब रोज़गार ही शुरू किया है, तब रोज़गारियों से संबन्ध (हो सके ती रोटी-बेटी का भी) बढ़ाना चाहिए।

किस्मत की खूबी से क्लब में एक श्रीमान जी से भेंट होने लगी और धीरे-धीरे मित्रता भी हो गई, उतनी ही जितनी एक श्रीमान् और श्रीहीन के बीच हो सकती है उनको क्लब का कुछ नहीं आता था, मुझको क्रिकेट टेनिस, बिलियर्ड, ब्रिज सब कुछ; उन्होंने ये सब सीखना चाहा, और एक चीज़ तो बिना मेरी मदद के ही सीख ली—सिगरेट पीना परन्तु याद रहे एक आने पाकिट वाली।

०

श्रीमान् जी हैं, तो उनके पास मोटर होना अनिवार्य है। मैं भी बहुत हिसाबी-किताबी आदमी हूँ। टेनिस तो नहीं पर ब्रिज और बिलियर्ड उन्हें सिखाया तो यह भी सीखता रहा कि बक्त-बेवक्त शायद कभी श्रीमान् जी से मंगनी की मोटर मिल जाय।

ग्रब वक्त पड़ा बाँका तो गधे को कहें काका। बड़े साहब ग्राए हैं। भेड़ाघाट देखना चाहते हैं। मोटर मिल जाय तो वाह वा! हर्रा लगे न फिटकिरी—नहीं, ऐसी बात नहीं है। श्रीमान् जी से ग्राशा थी कि शायद मोटर तो दे दें पर हर्रा-फिटकिरी ग्रपनी ही लगानी पड़ेगी। पर्स का खाता देखा तो ग्रपने नामे कुल ग्राठ रु० साढ़े सात ग्राने 'टंकित' थे। हिसाब लगाया :—

दो गैलन पेट्रोल (सस्ता समाना)	—२)
पाव गैलन मोबिल ग्राइल ,,	—॥)
नाव किराया — ,,	—१॥=)
चाय-पानी — ,,	—१)
ईनाम- इकरार बोटवालों को ,,	—।)
ड्राइवर को ईनाम	—१)
कुल	६।=)
ज़हर खाने के लिये बचे	२ –)॥

देवता-पितर मनाते, चलने की तैयारी की श्रीमान् जी के यहाँ, कि कुल तीन घंटे के लिये मोटर दें दे तो नाक रह जाय। बड़े लाट साहब भी क्या याद करेंगे कि गए थे छोटे बहनोई के यहाँ!

(३)

पहले पुछवा लिया कि श्रीमान् जी गद्दी पर विराज गए या नहीं। जब पता मिल गया कि दरबार में पधार चुके हैं तब टाई-कालर लगा कर ग्रपनी भी सवारी निकली। बैठना तो था फ़र्श पर किंतु टाई-कालर वाला यदि गद्दी के नीचे, मैली दरी पर बैठ कर, श्रीमान् जी की ख़ुशामद करे तो मोटर मिलने की संभावना ग्रधिक रहती है।

'जय गोपाल' झाड़ कर यह प्रतीक्षा की कि श्रीमान् जी बैठने को कहेंगे, पर वे रोकड़-बही से बेभाव उलझे हुए थे। मुनीम जी ने कहा-

"लाला जी आए हैं तब आँख उठा कर देखा और बे-मन से कहा-'बैठो' । हे राम ! ये तो भद्रा लगने के लक्षण थे । किसका मुँह देख कर चले थे ? उनका और उनके भैया जी का, अन्यथा श्रीमान् जी टाई-कालर देखते ही कहते—'आओ लालाजी, बैठो !' शायद एक पान भी देते और एक आने की दस वाली सिगरेट भी ।

पाँच-सात मिनट उलझे रहने के बाद श्रीमान् जी ने बही लपेटी और लम्बी साँस भर कर कहा—'अरे बाप रे !' और मुझे शून्य दृष्टि से देखने लगे ।

क्या बात है उस शून्य दृष्टि की ! इस लोक में तो वह दूभर है । चौदह भुवन में किस भुवन से वह दृष्टि लाकर वे देख रहे थे—कह नहीं सकता । फिर भी पूछना ही पड़ा—"श्रीमान् जी, ख़ैरियत है ?"

"ख़ैरियत ? लाला जी, अच्छा हुआ आप आ गए । ख़ैरियत तो अब शायद इस ज़िन्दगी से बिदा हो गई। पर आपस के लोगों से दुख-दर्द कहने से तबियत कुछ हल्की होती है । अच्छा हुआ आप आ गए ।"

हे भगवान ! मैंने सोचा कि वह तो सबेरे ही सबेरे मँगनी की मोटर को दुर्घटना हुआ चाहती है । फिर भी हिम्मत की और पूछा—"आख़िर कुछ सुनें भी तो; बात क्या है ?"

बोले—"बात क्या बतलाएँ ? आज पिता जी की आत्मा स्वर्ग में तड़प रही होगी । अपनी ज़िन्दगी भर वे सबेरे खाता खोलते थे तो ब्याज का तीन सौ रुपया रातों-रात-बढ़ जाता था । एक हम कपूत हैं । लाला जी, मत पूछिए । हम को सहने दीजिए, हम को जलने दीजिए । अरे लाला जी, हम मरेंगे तो हमें नर्क में भी जगह नहीं मिलेगी ।"

हाय राम । मोटर तो नीलाम पर चढ़ी जा रही है । हे मेरे मुंशी चितिरगुपुत ! तुम ही दोनों जहान के मालिक ! अपनी उनकी, बड़े साहब की किस्मत बटोर कर पूछा—"श्रीमान् जी कुछ बात भी तो बत-

लाइए कि नर्क में भी जगह क्यों नहीं मिलेगी। आखिर आपका भी तो कुछ हक़ है।"

श्रीमान जी—"अरे लाला जी, बतलाने लायक बात हो तो बतलाएँ। मुँह खोले तो बाज़ार हँसे, बन्द रखें तो आत्मा कलपे। कहाँ तीन सौ और कहाँ हम कपूत खाता खोलते हैं तो रात भर में ब्याज बढ़ा कुल दो सौ पंञ्चानवे रुपये छः आना।

मैं—"श्रीमान जी, कुल चार रुपये दस आने की घटी और इतना कुहराम ! आप भी क्या राई का पहाड़ बना रहे हैं ?"

श्रीमान जी ने कस कर मुट्ठी बाँधी और इतने ज़ोरों से गद्दी पर पटकी कि सौभाग्य से गद्दी पर पटकी। फिर थोड़ी देर मुझ को घूर-घूर कर देखते रहे। फिर अपनी मनहूस हँसी हँस कर बोले—"अरे लाला, जाओ कहीं नौकरी कर लो। न मिले तो मेरे गाँव देखो। क्यों रोजगार में आ फँसे, ऊँ हूँ, नहीं होने का तुम से।"

मैं—"सो तो ठीक है श्रीमान जी ! पर कहाँ चार रुपये दस आना और कहाँ इतना बवाल ?"

वे—"अब मुझे गुस्सा दिला रहा है। अरे लाला बेवकूफ़ ! चार रुपये दस आने प्रति दिन के हिसाब से पंद्रह दिन में कितने हुए ?"

मैं—"उनहत्तर रुपये छः आ०।"

वे—"ठीक। इस पर बारह प्रतिशत, प्रति पखवाड़ा, ब्याज क्या हुआ ? कुछ गणित-वणित आती है कि आगए रोजगार करने।"

मैं—"गणित में तो मैं हमेशा अव्वल नम्बर में 'प्लक' (नापास) होता आया हूँ।"

वे—"शाबाश ! अब मुझे पच्चीस-तीस साल ही अगर और जीना है तो इस चार रुपये दस आने प्रति दिन मूल का, प्रति पखवाड़े बारह प्रतिशत बढ़ता हुआ चक्र-ब्याज कितना होगा ?"

अब मैं कैसे कहूँ कि श्रीमान के पिताश्री तो भरी जवानी में भरी बहू और भरी तिजोड़ी छोड़कर कूच कर गए थे—और सच तो यह है कि इसके बाद शीघ्र ही श्रीमान जी ने भी पिताश्री का अनुकरण किया। मुझ से तो प्रश्न पूछा गया था जिसका उत्तर देना जरूरी था। मैंने कहा—"श्रीमान जी, मुझे दो दस्ता काग़ज़ और दो सीस पेंसिलें और दो महीने का समय दिया जाय तो मैं खुद, या आदत के मुताबिक नकल करके, इस सवाल को हल कर दूँगा और फिर चाहें आप उत्तर चक्रवर्ती की अंक-गणित से मिला लीजिएगा। आपको निराश नहीं करूँगा। आप भी मुझे निराश न कीजिए। मुझे भी कुछ कहना है।"

श्रीमान जी बोले—"तुझे भी कुछ कहना है! देख लिया तुझ और तेरी बुद्धि को। अरे लाला घोंचूराम! लक्खों का घाटा है—लक्खों का, मुनीम जी, अरे ओ मुनीम जी! अब नहीं सहा जाता। मुनीम जी, मोटर फ़ौरन बेच दो, ड्राइवर को फ़ौरन हटाओ। पान वन्द कर दो। सिगरेट अब से पिऊँ तो—तो—तो माँग कर पिऊँगा। और देखो मुनीम जी, तरकारी बने तो दाल न बने और दाल बने तो तरकारी न बने। हाय! हाय! इस घाटे में किस बेईमान को भूख, नींद, चैन, आराम। सब आजाते हैं श्रीमान जी-श्रीमान जी करते। किसी को दुख-दरद नहीं, कोई सहारा नहीं।"

और श्रीमान जी 'ओ बाप! ओ बाप!' कह कर बड़े-बड़े आँसू रोने लगे। ऐसा दृश्य था कि करुणा को भी करुणा आ जाती, फिर मैं तो हाड़-मांस का आदमी। मेरे भी आँसू निकल आए और पर्स से आठ रुपये साढ़े सात आने निकाल, मैंने श्रीमान जी के सामने रख दिए और बोला—"मित्र! अभी इतना ही है। आगे भी जो हो सकेगा, मदद करूँगा। यह मत कहो कि कोई सहारा नहीं, आसरा नहीं। मैं तो अभी हूँ।" और आँसू पोंछते भाग निकला।

(४)

हाँ जी, आपके ऊपर गुज़री होती तो आप भी जानते। आप तो कहानी पढ़ने बैठे हैं। 'आगे तब ?' जानना चाहते हैं। इसके बाद बड़े लाट साहब मुँह फुला कर विदा हुए और मेरी नाक़ाब्लियत के बारे में 'लक्ष्मी जी' को ऐसा भर गए कि आज भी किसी लायक नहीं हो पाया।

पर वाह रे भेड़ाघाट ! वह भी मेरी लियाक़त के समान टस से मस नहीं हुआ। और यह तो लड़ाई के पहले की बात है। आज आपके बड़े लाट साहब आएँ तो आटे-दाल का भाव मालूम हो जब पेट्रोल चौगुना मँहगा है और मौत तो बे माँगे मिलती है पर मोटर लाख माँगने पर भी नहीं।

माला, नारियल, आदि

जब एक ही तिथि में कुछ पहर एकादशी, कुछ पहर द्वादशी हो सकती है, तो एक ही मनुष्य में एक से अधिक व्यक्तित्व भी हो सकते हैं। मैं जिस तिथि में पैदा हुआ, उस दिन पूरे चौबीसो घंटे एक ही राशि थी—राशि में राशि, कन्या राशि। और जिस तिथि में 'उन' के पिता जी को कन्या-रत्न प्राप्त हुआ, उस दिन दो तिथियाँ और दो राशियाँ थीं, और उनका जल्वा इस जहाँ में रौशन हुआ दोनों राशियों के संधि-काल में—अर्थात् सिंह और वृश्चिक के बीचो-बीच।

लोग पूछते हैं कि इतना खाते-पीते हो, फिर भी तुम्हारी हड्डी पर मांस क्यों नही चढ़ता? एक हो तो कुछ ज़ोर लगाया जाय। जहाँ एक ओर सिंहनी के नख और दूसरी ओर बिच्छुनी के डंक का सदा भय बना रहे, वहाँ, बीचो-बीच, यह ग़रीब कन्याराशी कहाँ तक पनप सकता है?

मेरे पूर्वज, अर्थात् बहुत, बहुत, बहुत पुराने पूर्वज़, अर्थात् 'बाप के, बाप के, बाप के, बाप के, बाप के, बाप हमारे', आर्य थे। उनका आदि देश कौन था, इसमें लोकमान्य तिलक, बाबू सम्पूर्णानन्द और महापंडित राहुल सांकृत्यायन में मत-भेद है।

पहली राउण्ड टेबल कानफ़रेन्स में केवल इतना ही निश्चित हो पाया था कि कहीं से आर्यों की एक शाखा इंगलैंड गई, जिससे रामसे (रामसहाय ?) मैकडोनल (मकदूमअली ?) हुए और एक भारत आई,

जिससे मैं तवल्लुद हुआ और अपने को पूरे सौ नए पैसे भारतीय आर्य मानने लगा।

अब भारतीय होने के नाते मुझे व प्रत्येक भारतीय को अपने को सिंह-शेर या सांप-बिच्छू से कटवाने का पूरा अधिकार है, क्योंकि पाश्चात्य विद्वानों ने हमारे देश की अधिकतर आबादी इन्हीं जीव-जन्तुओं की मानी है। सिंहनी से कटवाने या नागिन से डसवाने की आपकी हिम्मत न हो, तो कम-से-कम, अपने प्यारे देश की मर्यादा की रक्षा के लिये, आपको बिच्छुनी के डंक का स्वाद लेना चाहिए। आप पूछेंगे कि मैं ने लिया है या नहीं। मैं कहता हूँ—नहीं, परंतु डंक से शरीर की नस-नस में जो विष लहरें मा ता है, उससे भी अधिक वेदनापूर्ण विष का मैं नित्य अनुभव करता रहता हूँ—एक-मात्र बोली की गोली से। मैं वह हूँ जिसे गोस्वामी जी (आज होते तो डाक्टर बाबा तुलसीदास होते) ने कहा है—'ग्रह-ग्रहीत, पुनि वात-बस, ता पर बीछी मार।' और आगे, 'वारुणी' के विषय को भला मैं बेचारा क्या जानूँ ? अर्थात् वारुणी तो पद्य का विषय है, इस गद्य-लेख और मद्य-निषेधी र ज्य में उस की चर्चा क्या करूँ ? बक़ौल खुद:

लफ़्ज़ 'मय' भी न ज़बाँ पर लाओ,
शायरी को भी कहीं दफ़नाओ,
अब तो ऐ 'ऊँट' नागपुर रह कर,
चा पियो और चेवड़ा खाओ।

(२)

इस छोटी-सी भूमिका से आपको मेरी हस्ती का कुछ-कुछ पता लग गया होगा,—और उनकी भी।

और मैं सच कहूँ, आरंभ मैं ने ही किया था। अपराधी मैं ही हूँ।

अब तो खद्दर के वेष के बावजूद भी, यह कलूटा साहब हो गया है;

'हाज़िरी' खाता है। उन दिनों आदमी था, खाना खाता था। रात की ब्यालू के बाद घड़ी पर नज़र जम जाती थी और एक-एक मिनट पहाड़-सा जँचने लगता था। बक़ौल शायर :

'हम आँख किए बन्द तसव्वुर में पड़े हैं।
ऐसे में कोई छम-से जो आजाए तो क्या हो ?'

और छम-से आने में दस मिनट की भी देर हुई तो महाभारत के सोलह पर्वों के पाठ के बाद, सवेरे पहर कहीं शान्ति-पर्व आता था। बेचारी लाख समझाती थी कि भरा-पूरा घर है, कोई न कोई अच्छा-बीमार रहता ही है; सभी की देख-भाल के बाद ही तो आना हो सकता है।

मैं कहता—एक तो ग़लती करती हो कि सब से पहले मेरी देख-भाल नहीं करतीं और दूसरे मनाती हो कि कोई-न-कोई बीमार रहे।

वे कहतीं—मैं काहे को मनाने लगी ? बात यह है कि आप के पिताजी से उस दिन किसी ने पूछा—'चाचा जी, घर में सब ख़ैरियत तो है ?' उन्होंने कहा—'मेरे घर में क्यों सब ख़ैरियत हो ? सब ख़ैरियत हो मेरे दुश्मन के घर। भगवान का दिया भरा-पूरा बीस बाल-बच्चों का मेरा घर है। किसी-न-किसी को खाँसी, सर्दी, बुखार आता-ही रहता है।' मैं तो यही कह रही हूँ कि अपना भरा-पूरा घर है। मैं क्यों मनाने लगी कि कोई बीमार हो ?

ये दो-दो हाथ तो आए दिन होते ही रहते थे। एक दिन बाक़ायदा पानीपत का तृतीय युद्ध हो गया। रिश्तेदारी में एक जगह लगुन का बुलौवा था; मुझको भी, उनको भी। उस समय राशनिंग के कारण वैसी ही त्राहि-त्राहि थी, जैसी नादिरशाह के हमले के समय शहर दिल्ली में रही होगी। मैं तो गिनती की दस पूड़ियाँ और दस कचौड़ियाँ खाकर, ग्यारह बजे घर आगया और आप हैं कि इधर मैं तारे पर तारे

गिने जा रहा हूँ और उधर उन्हें जैसे घर का रास्ता ही भूल गया। पहले पचास हजार तारे गिनने पर एक बच्चे ने 'पी' की; दूसरे पर दूसरे ने। भगवान झूठ न बोलाए, इसके बाद पूरे एक लाख तारे गिनने पर, इधर तीसरे बच्चे ने 'पी' की और उधर उन्होंने दर्वाज़े की कुंडी खटखटाई। बच्चे को एक चाँटा रसीद किया, साँकल खोल दी और लद से आकर पलंग पर पड़ रहा। गाल फुलाने की पूरी कोशिश की पर पिचकी हुई वस्तु कहाँ तक फूलती।

उन्होंने आकर बच्चे को छाती से लगा लिया और झल्ला कर बोलीं—"गुस्सा उतारना है तो मुझ पर उतारो। फूल से बच्चे को क्या चाँटा जड़ा है कि तिलमिला गया।"

मैंने कहा—"ठीक है, चौकीदारी भी करो और झिड़कियाँ भी सहो।"

"अहा हा हा हा ! एक रोज़ देरी क्या हो गई, तानों का ज़खीरा खुल गया।"

"पर देरी हो क्यों ? मैं भी तो वहीं गया था। औरत-मर्द दोनों की पंगतें साथ-साथ बैठाल दी गई थीं। मैं तो ग्यारह बजे छक कर आ गया, और तुम्हारा पेट है कि कोट ! बारह बजे, एक बजा, दो बजे तब कहीं रानी जी महलों में पधारी हैं।"

उन्होंने ज़रा मातवरी से कहा—"देखो जी, और दिन बिगड़ते हो तो बिगड़ा करो। मैं रोऊँगी, गिड़गिड़ाऊँगी, मनाऊँगी। पर आज तुम्हारी एक नहीं चलने की। हमारे भी तीन बच्चे हैं; और, अभी और होंगे। समाज में रहना है। आज हम किसी के दुख-सुख में खड़े न होंगे, तो कल हमारा दर्वाज़ा कौन झाँकेगा ? तुम तो खा-पीकर, हा-हा, हू-हू करके चलते बने। और हम लोगों से कहा गया कि शादी-सगुन का मामला है, जो बिना गाए-बजाए चला जायगा, उससे बुराई हो जायगी।

तो क्या करती ? पीढ़ी-दर-पीढ़ी का नाता तोड़ कर आ जाती ? तुम्हीं कल कहते कि पराये घर की लड़की क्या आई, हमारे कई पुश्त के संबंधियों से बिगाड़ करा दिया।"

मैं ने कहा—"भगवान ने आपको जैसा भोंपू स्वर दिया है, उसका नमूना तो सामने ही है। दो-चार गँवारू गीत गा कर उठ आतीं। यों रतजगा करने की क्या ज़रूरत थी ?"

जवाब मिला—"आप तो हैं निगुनी। न खुद को कुछ आए-जाए, न दूसरे का गुन परख सकें। वहाँ पचास औरतों के रहते ढोलक मेरे सामने रख दी गई। गाने वाले तो गाएँ और चले जाएँ, पर साज़ वालों के उठने का मतलब होता है—खेल खतम। यह तो गया कि बेचारी थकी-माँदी आई है, उल्टा रोब कसे जा रहे हैं।"

यह तो सुप्रीम कोर्ट के फ़ैसले के समान था, जिसकी अपील आगे होती ही नहीं।

(३)

वर्षों की तपस्या के बाद उस मलेच्छ, मुमताज़अली खाँ ने व्रत भंग करा दिया। गाड़ी तो अक्सर नाव द्वारा पार होती है। अब समय बदल गया था। नाव गाड़ी पर थी। साढ़े दस बजे सुबह दफ्तर न पहुँचता तो बड़े बाबू घड़ी दिखाते और नव बजे रात घर न पहुँचता तो उलट महाभारत होती।

उस दिन रात आठ बजे घर लौट रहा था। रास्ते में मुमताज़ का घर पड़ा। बोला—"म्याँ ईद के चाँद ! आओ, पान खाए जाओ।··· ओ मुन्ने ! ज़रा चाचा के लिये गिलौरियाँ लाना।"

नौ बजने में देर थी। बैठ गया। क्या जानता था कि बैठना पाप हो जाएगा ? अब वह सीधे कहता कि एक बाज़ी खेल ले, तो साफ़ टाल जाता। वह तो लगा हाँकने—"म्याँ, शतरँज का खेल बड़े दिमाग़ का

खेल है। ऐसे-वैसों के पल्ले पड़ता ही नहीं। लगाने को तो अपना मुंह है—अपने को बादशाह लगा ले। मगर शतरंज ? ऊँ हूँ। आज शहर में कोई खड़ा हो सकता है—शेख मुमताज़अली खाँ के सामने ?...अरे अरे मुन्ने ! ज़रा जल्दी पान ला, चाचा जी को देरी हो रही है।"

यह पिद्दी, सैकड़ों मातें खाए बैठा है, और ललकार रहा है मुंशीजी को ! ज़रा निकलना-बैठना क्या छोड़ दिया, अनाड़ियों के हौसले आस्मान से टक्कर लेने लगे। उबल तो पड़ा अहंकार और निकल पड़ा मुँह से—"बेटा, बिछाओ बाज़ी और खालो दो-एक मात, बहुत भूखे हो रहे हो।"

शतरंज बिछ गई और दसवीं-बारहवीं चाल में मात देने वाले मुंशी जी इतनी ही चालों में खुद खाकर बैठ गए। और वह मूज़ी चिल्लाया—"अरे मुन्ने ! क्यों देर कर रहा है ? मैं ने तो मात तक खिला दी और तू ने अब तक अपने चाचा जी को पान तक नहीं खिलाया !"

आग तो लग गई सिर से पैर तक। मैं ने कहा—"म्याँ, मीलाद पढ़वाओ ! शीरनी बँटवाओ ! ज़रा बे-मन से क्या खेल गया, तुम्हारा भी नाम हो गया—फ़तेह मोहम्मद, आ, अबकी, हौसला हो तो।"

और आया मुन्ने पान लेकर तो मूज़ी कहता है—"बेटा, एक मात और चाचा जी को एक पान। आज रात यहीं रही।"

अबकी जमकर हुई। एक-एक चाल सोच-विचार कर, सँभल-सँभल कर, पाँच-पाँच, दस-दस मिनट में और अन्त में शेख़जी चारो खाने चित, और घड़ी में देखा तो बजे साढ़े दस !

अब घर जाकर कुंडी खटखटाई तो कुछ ऐसा जान पड़ा कि आज की चाल में छमाछम कम और धमाधम ज्यादा है। कुंडी खोल कर दर्वाज़े पर पटकी गई और इस तेज़ी के साथ मुँह फेर कर चलती बनीं जैसे किसी खूँखार सार्जेण्ट ने आर्डर दे दिया हो—'राइट अबाउटटर्न।'

भीतर जाने पर नज़र पड़ी तो फूले-फूले गाल हू-ब-हू फुटबाल हो

रहे थे। पीढ़ा भी पटक कर, लोटा भी पटक कर, थाली भी पटककर—आज तो ज़िबिस्को भी होता तो खा जाता, फिर इस डेढ़ पसली के आदमी की क्या हालत रही होगी—कल्पना की बात है, विशुद्ध कल्पना की।

मैं ने पूछा—"आख़िर ऐसा क्या आसमान फट पड़ा कि बिल्कुल शूर्पणखा की भतीजी हुई जा रही हो ?"

जवाब—"जी, बस, हो गई चार दिनों की चाँदनी ? आपकी जान कुछ हुआ ही नहीं। ज़रा देखिए तो क्या बजा है। वह घड़ी, जो मेरे बाप ने दहेज़ में दी थी, आप बाँधे हुए हैं या मैं ? आख़िर थे कहाँ, मैं भी तो सुनूँ।"

"अरे भाई, उस मुमतजवा के साथ बाज़ी क्या लग गई, देर हो गई। माफ़ करो।"

"माफ़ करो बाप-रे-बाप ! माफ़ करो ? सरकार शतरँज खेल रहे थे ? और यह दासी चौका-बरतन, काम-धाम में दस मिनट देर कर दे तो फाँसी लग जाय।"

"साँच बराबर तप नहीं'—अरे वाह रे साँच ! उसी दिन ख़ास मुंशी चितिरगुपुत (आज होते तो डाक्टर मुंशी चितिरगुपुत होते) की क़सम खा ली कि आगे जहाँ तक बीबी और प्राहीविशन का सम्बन्ध है, लगातार 'झूठ बराबर पाप' ही किया जायगा।

कहाँ मर गया था यह आवारा गिरोह ? कहाँ मर गई थीं शतरँज-चौरस ? कहाँ मर गए थे ब्रिज, रमी ? और, सबसे बढ़कर, कहाँ मर गया था उस ज़माने का छमाछम नाच कि काग़ज़ का नहीं, खन्न से चाँदी का कल्दार जेब से निकलता था और 'लो बीबी ! तुम्हारा और तुम्हारे बाप का।' ये सब झुंड बाँधकर अब क्यों मेरे पीछे पड़ गए ? क्यों न आरंभ से ही इन सब ने घर के बाहर मुझे खींचा ? क्यों मैं ने देर पर बिगड़ने का पाठ पढ़ाया ? अब जैसा बोया था, वैसा काटो।

(४)

यह बात नहीं थी कि प्रीत-परतीत में कोई कमी हो गई हो। बजट के दिनों में बड़े बाबू सवेरे से दफ़्तर बुलाते थे और दो बजे, घंटे भर की खाने की मोहलत देते थे। घर पहुँचता तो आटा मँड़ा रक्खा है। झट चूल्हा फूँका गया और गरमागरम थाली पर आने लगीं। मैं कहता—'सेंक कर रख लिया करो, क्यों चौथे पहर आग में खपती हो ?' वे कहतीं—'वाह ! मर्द-मानुस दो रोटी मन की खायगा नहीं तो कमायेगा कैसे ?' ऐसा लगता जैसे साक्षात् सती, साध्वी, मंदोदरी की नातिन सामने खड़ी है।

और बाहर दौरे पर गया था। रात एक बजे वापस लौटा। जाड़ा भी पड़ रहा था, पानी भी बरस रहा था। कलेजा काँप रहा था—सर्दी से भी, भय से भी। टाँगा खड़ा हुआ। कुंडी खटखटाई। छमाछम पहुँच गईं और काहे को उतारने दें पेटी-बिस्तर। रात का मामला, परदा बेकार, खुद उतार कर भीतर किया। फिर पूछा—"भोजन-छाजन ?"

मैं ने 'झूठ बराबर पाप' करके कहा—' खा लिया हे।"

वे—"सो तो मुँह से ही दिखता है। बीना लाइन में हवा के सिवाय तो कुछ खाने को मिलता नहीं। वही खाया है, तभी मुँह पर हवाइयाँ उड़ रही हैं।" और चलीं रोटी बनाने।

मैं ने कहा—"सुनो, ज़रा मौसम को देखो, रात को देखो। अब इस वक्त तो रहने दो। सवेरे 'हाई टी' दे देना।"

बड़े अन्दाज़ से कहा—"वाह तुम तो समझते हो जैसे पहाड़ खोदना है। देखो, तुम पढ़े-लिखे आदमी हो न ? वह तीन कौड़ी की कविता बनाते हो, उसकी चर्चा नहीं करती, तार-चिट्ठी आदि लिखने की बात है। अब चाहे जितने थके-माँदे रहो, कोई कहे—बाबू, ज़रा एक तार

लिख दो—तो इन्कार तो नहीं करोगे। तार लिखना तुम्हारे लिये है कितनी बड़ी बात ! वैसे ही हम लोगों को समझो। रोटी-दाल या साग-पूड़ी बना देना हमारे लिये है कितनी बड़ी बात !"

आहा हा ! ऐसा लगा जैसे त्रेता में रानी कैकयी की हितेच्छु दासी मंथरा थी वैसी कलियुग में मेरी ये हैं।

इस प्रकार प्रीत-परतीत में कोई कमी नहीं हुई थी परन्तु; शहर में रहते; रात में थोड़ी भी देर हुई कि बस ज्वालामुखी फूट पड़ती थी। उपरोक्त मुमताज़ वाली घटना तो एक मामूली हाथा-पाई थी। अब एटम की लड़ाई तो कभी देखी नहीं पर गृहयुद्ध जब अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचता, तब आँगन के नीम की चिड़ियाँ बसेरा छोड़ देतीं और मोहल्ले भर के कुत्ते भोंकने लगते। अंतिम तीर छूटता जब कुंभकर्णी स्वर से रोना और बीच-बीच में चिल्लाना होता—'अरे दद्दा, मैं ने तुम्हारा कौन अपराध किया था, जो ऐसे के साथ बाँध दिया ! अरी अम्मा, कौन जन्म का बदला लेने के लिये तुम ने मुझे ऐसे के साथ बाँध दिया !' हाकी-क्रिकेट खेलने में ऐसी-ऐसी चोटे लगी हैं कि अब तक निशान मौजूद हैं परन्तु यह 'ऐसे के साथ बाँध दिया' की चोट ऐसी पडती थी; जैसी सी० के० नायडू की वाउण्डरी—सर-सर.सर; छाती रूपी फ़ील्ड के साफ़ आर-पार।

(५)

रोते-धोते उतने दिन और बीत गए जितने दिनों में दो सन्तानें और हो जाती हैं—और तब यह घटना घटी। बिरादरी—रिश्तेदारी में नहीं, दोस्ताने में एक जगह लगुन का बुलावा था—केवल मेरा। एक तो लगुन बहुत देर से चढ़ी और बाद में लोग गले पड़ गए कि कुछ सुनाओ। उन्हें क्या पता कि जितनी देर हो चुकी है, उतनी के लिये मुझे कितनी सुनने को मिलेंगी ? एक तो यह बात खोल कर समझाने की नहीं थी, दूसरे कुछ अवसरों पर ऐसे संकोच में पड़ जाना पड़ता है कि बिना आज्ञा-

पालन के पिण्ड नहीं छूटता। लाचार सुनते-सुनाते घड़ी ने बारह बजाए तब होश आया कि अपने भी बारह बज गए। पहले इरादा हुआ जाकर थाने में लिखवा दूँ कि मैं चोर, डाकू, गिरहकट सब-कुछ हूँ, और हवालात में सुरक्षित हो जाऊँ। फिर सोचा कि आख़िर सवेरा तो होकर ही रहेगा—और, देवता-पितर सुमिर कर हिम्मत की—और, विदाई की माला-नारियल लिए घर की ओर बढ़ा। पैर हो गए मन-मन भर के और दिल उछल कर कभी एड़ी को जाता, कभी चोटी को। ज्यों-त्यों कर के कुंडी खटखटाई तो ऐसा जान पड़ा कि कोप-भवन से इंजिन रवाना हो गया है। बड़-बड़ करते हुए कुंडी खोली और पहली साँस में तीन प्रश्न की ख़बर ली और दूसरी में सात की लेने जा रही थी कि बावरे बंभोलानाथ (जाने दीजिए जी आज होते तो क्या होते) ने मुझे भी सुबुद्धि दी और मैंने कहा—

"देखो जी, और दिन बिगड़ती हो तो बिगड़ा करो। मैं मनाऊँगा, समझाऊँगा, सिनेमा ले जाने का वादा करूँगा और पाउडर, क्रीम, लिपस्टिक तक ला दूँगा। पर आज तुम्हारी एक नहीं चलेगी। समाज का मामला है। हमारे भी पांच बच्चे हैं, और, अभी और होंगे। समाज में रहना ही पड़ेगा। आज हम किसी के दुख-सुख में खड़े न होंगे, तो कल हमारा दर्वाज़ा कौन झाँकेगा ?"

वे—"आयँ ! तो कहीं शादी-सगुन में गए थे ?"

मैं—"हाँ वो मुंशी ग़फ़लतराम नहीं रहते, सराफ़े में। उन्हीं के लड़के नफ़रतराय की लगुन चढ़ी थी—उसी में लो, ये माला-नारियल।"

वे—"तो लगुन बारह बजे तक चढ़ती रही ? वे तो बिरादरी के हैं नहीं, जो तुम्हारा खाना-पीना हुआ हो ?"

मैं—"तुम तो हो अपढ़ काला अक्षर भैंस बराबर। वहाँ लोगों ने घेर लिया कि बिना दो-चार चीजें सुने न जाने देंगे। फिर क्या करता। बुराई मोल लेता ?"

वाह! क्या फिर से गाड़ी नाव पर आई है कि हम हैं जो डाटे चले जा रहे हैं और वे हैं कि कुल्फी मलाई की बरफ़ कहती हैं—"कपड़े उतारो। हाथ-मुँह धोओ। दिन भर के भूखे-प्यासे, ग़ुस्सा करोगे तो माथा गरम हो जायगा, नींद नहीं आयगी। आओ, मैं रोटी सेंकती हूँ।"

धत्तेरे की! इतनी-सी बात और इतने दिन नहीं सूझी! चैन से कटने लगी, चैन से। कुछ दिनों में शेख़ साहब दसवीं-बारहवीं चाल में मात खाने लगे। ब्रिज, रमी, छमाछम,—फिर सब पुण्य-कार्य होने लगे। बात ही कितनी थी? कभी दिन में ही भूमिका बाँध ली—कहीं शादी, कहीं लगुन, कहीं निकाह। कभी माला-नारियल लिए पहुँच गए, कभी काजू-किसमिस। जहाँ सचमुच का निमंत्रण हुआ, वहाँ उन्हें जरूर साथ ले जाना। अलग-अलग लौटना हुआ और उन्हें देर हुई, तो बड़ा मीठा स्वागत, यहाँ तक कि हाथ-पैर की भी पूछ लेना और उनका कहना कि क्यों नरक में ढकेलने की बातें करते हो। चार छः आने के माला-नारियल, बताशे-लड्डू, काजू-किसमिस ने ज़िन्दगी का रवैया ही बदल दिया।

भारत में और सब बातों की कमी हो सकती है, एक देवी-देवताओं की कमी नहीं हो सकती। बारबार माला-नारियल आदि खरीदते देख दोस्त पूछा करते थे कि बात क्या है और पटाक से किसी देवी-देवता का हवाला दे दिया जाता। यथार्थ में जिन देवी जी की पूजा थी, वे गायत्री-मंत्र की तरह गुप्त रखी जातीं।

(५)

हँसते-खेलते उतने दिन बीत गए जितने दिनों में—जाने दीजिए, आप ख़ुद समझदार हैं। अब एक दिन की बात सुनिए कि ब्रिज-टूर्नामेन्ट हो रहा था। माला-नारियल आदि तथा उन देवी-देवताओं की कृपा से, जिनकी पूजा 'झूठ बराबर पाप' द्वारा कर रहा था, मैं और साथी फ़ाइनल तक पहुँच गए थे। आज फ़ाइनल था जिसका ज़रा लम्बा

होना स्वाभाविक था। मैं ने भी एक ऐसे ग़ैर-विरादरी वाले आपसी मित्र के यहाँ, एक नहीं दो लड़कों के लगुन की भूमिका वांधी थी, जो मेरे घर से इतने लम्बे रहते थे कि घर तक हवा भी न पहुँचे। नाम था— बाबू भरकम लाल।

फ़ाइनल खेलने पहुँचा तो दो मालायें और दो नारियल। दोस्तों ने पूछा कि यह क्या तो मैं ने कहा—सूरज महाराज की मानता मानी है कि जीत गया तो सवेरे पूजा करूँगा। खेल हुआ, और जम कर हुआ, और जीत हुई, और कप पाने की तारीख़ की प्रतीक्षा करते अकड़ते हुए, घर लौटा। दो मालायें और दो दो नारियल देवी जी को अर्पित किए। पूछा "हो गई लगुन?"

मैं ने—"हाँ, बहुत ख़ुशी-ख़ुशी।"

वे—"तुम्हारे मित्र—क्या नाम उनका—बहुत प्रसन्न हुए होंगे। चढ़ोत्री काफी थी न?"

मैं—"अरे हां, वही भरकम लाल। चढ़ोत्री क्या आई कि अब भारी भरकम लाल हो गए। फूले नहीं समाते थे।"

उनकी आँखें तो चढ़ गईं कपार पर और नथने फूल-फूल कर कानों तक जाने लगे। छाती ठोक और दो चक्कर खा कर धम से गिरीं ज़मीन पर और बोली—"हे भगवान! भरकम लाल की पत्नी शाम को मेरे घर बैठ कर गईं हैं।"

यहाँ काटो तो ख़ून नहीं। आगे के हवाल क्या लिखें? दद्दा और अम्मा की सूची में काका, मामा, फूफा, मौसा और उनकी अर्धांगिनियां जोड़ी गईं और सब से एकमात्र प्रश्न पूछा गया कि किस अपराध से वे मुझ जैसे के साथ बाँध दी गईं।

प्यारे पाठको! एक हिकमत सूझी थी—बहुत थी—बहुत दिन काम पड़ी। अब तक गायत्री-मंत्र की तरह इसे मैंने हृदय में गुप्त रक्खा। अब

तो मेरे काम की रही नहीं। आपकी श्रीमती जी की आंख अगर इस रचना पर न पड़े और कुछ दिन आपका काम बन जाय, तो आपको सादर अर्पित है। और यदि आपको कोई अच्छी हिकमत सूझी हो, तो छिपाइए नहीं—मेरे पते पर रुपये-बारह आने की वी० पी० कर दीजिए। अवश्य छुड़ा लूंगा।

आदरणीया पाठिकाओ ! धूर्तों से सावधान !!